

प्रथमसोपान – बाल काण्ड

ओम तत्सदात्मने नमः

वर्णानामर्थं संघानां रसानां छंदसामपि ।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ ॥
भवानी शंकरौ बन्दे श्रद्धा विश्वास रूपिणौ ।
याभ्यांबिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥
वंदे बोधमयं नित्यं गुरु शंकर रूपिणं ।
यमाश्रितोऽहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥

यह रामचरित मानस गोस्वामी जी की मानस साधना का कथा-रूपान्तरण है। उनके आध्यात्मिक अनुसंधान की थीसिस (शोध ग्रंथ) है। इसके सात काण्ड साधना की सात भूमिकाएं हैं, जिनमें प्रवेशिका से लेकर पराकाष्ठा तक, साधनात्मक प्रक्रिया पूरी ले ली गई है। यह बालकाण्ड पहला सोपान है। पहली भूमिका 'शुभेक्षा' को इसमें लिया गया है और क्रियात्मक रूप में साधना की प्रवेशिका से शुरुआत कैसे होती है, यहां बता रहे हैं।

सबसे पहले गणेश की वंदना करते हैं। गणेश है मंगल करने वाला। गणेश के साथ वाणी की भी वंदना करते हैं। गणों का ईश गणेश है।

ये जो इंद्रिय गण हैं – इंद्रियों के अधिष्ठाता देवगण, इनमें प्रमुख यह मन गणेश है।

गोस्वामी जी मानस की रचना करने जा रहे हैं – इसलिए 'वंदे वाणी विनायकौ' से शुरुआत कर रहे हैं। ऐसे यह तो सांसारिक तौर तरीके की बात है। लेकिन मानस की शैली से – इसका मतलब अलग है। जब साधक के मन में भजन करने का शुभ संकल्प जाग्रत हुआ और साधक की बुद्धि ने साथ दिया, वाणी का योग हुआ। तो फिर समझो यहीं से कल्याण का रास्ता मिल जाता है। कल्याणकारी संकल्प का मन में बीजारोपण हो गया। ऐसा यह ईश्वरोन्मुख मन ही गणेश है। यहीं से साधना का – श्री गणेश हो गया। यहीं से यह मन, मानस बनने लगा। हमको तुमको चाहिए, कि जब कभी मन के अन्दर भगवान की भक्ति करने का विचार बने, तो उसको अच्छा मानें, और उसको फिर हटने न दें अपने अन्दर से। तो वही फिर मंगल का विधान करने वाला गणेश बन जाएगा। सबसे पहले इसकी पूजा जरूरी है। यही

मन सब देवों का देव है यदि अनुकूल और आत्मोन्मुख है। इसकी पूजा अर्चना वंदना कर लेना जरूरी है। साधना प्रक्रिया का सबसे प्रमुख तत्व है मन। मन को मना लेना इसलिए आवश्यक है। मन अनकूल हो जाय तो समझो तप त्याग, योग, वैराग सब हो गया और मन से ही भजन होता है। इसलिए मन कीसंभाल सबसे पहले जरूरी है। दूसरा मुख्य तत्व है वाणी – क्योंकि नाम का यजन वाणी से होता है।

बैखरी, मध्यमा, पश्यंती और परा – इनके बिना भजन होता नहीं। इसलिए वाणी की भी जरूरत है। इसलिए सबसे पहिले इनकी वंदना कर लिया। ‘वंदेवाणी विनायकौ।’ तो जब मन से ठीक हो, वाणी से ठीक रहे तब क्रिया में भी सही रहेगा। ऐसा नियम है।

फिर श्रद्धा और विश्वास को लिया गया है, शंकर-पार्वती के रूप में। साधक के हृदय में श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए। विश्वास ही सत्य का रूप लेता है। इस कायारूपी काशी में विश्वास रूपी विश्वनाथ है। यह श्रद्धा ही भजन में लगाती है। और यह बिना विश्वास के रह नहीं सकती। ये श्रद्धा विश्वास रूप भवानी और शंकर एक दूसरे के पूरक हैं। ये दोनों रहेंगे साथ-साथ। इनके पुत्र कहे गए हैं गणेश। क्योंकि श्रद्धा-विश्वास से ही मंगल करने वाला रूप बनता है मन का। इन्हीं के प्रभाव से साधक के अन्दर आत्म कल्याण की प्रवृत्ति बनती है। और मन में ईश्वरीय भावना का उदय होता है।

श्रद्धा-विश्वास के बिना अपने अन्दर बैठा हुआ परमात्मा दिखाई नहीं पड़ सकता ‘याम्यांबिना न पश्यंति सिद्धाः स्वान्त स्थमीश्वरम्।’ मतलब इसका यह निकलता है कि अपने इस शरीर के अन्दर आत्मा रूप में जो भगवान है, वही ब्रह्म है, वही सबमें रमने वाला परमात्मा राम है। उसमें श्रद्धा-विश्वास लाना पड़ेगा – अगर साधना करना है और उसमें सफल होना है तो।

अब तीसरे सूत्र में शंकर के रूप में गुरु की वंदना करते हैं। शंकर अर्थात् कल्याण करने वाला – संत ही कल्याण करने वाले होते हैं। इसलिए शंकर संत को कहते हैं। सद्गुरु को शंकर कहते हैं। जो शंकाओं के अरि हैं, अर्थात् सब प्रकार की शंकाओं का शमन कर देते हैं। तो आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त महापुरुष ही शंकर हैं। वही कल्याणकरने वाले होते हैं। उनमें वह क्षमता होती है कि जो भी टेढ़ा-मेढ़ा (कपटी, कुटिल, पातकी) साधक उनका आश्रय ले लेता है – उनके प्रति समर्पण कर देता है – उसका उद्धार अवश्य हो जाता है। वह इस माया-मोह रूपी कलंक की कालिख को छोड़कर निर्मल हो जाता है और वंदनीय हो जाता है। जैसे शंकर जी के

सिर पर बैठा टेढ़ा चन्द्रमा वंदनीय है संसार में। तो यह सब चन्द्रमा वगैरह की बातें समाज की रुढ़िगत मान्यताएं हैं। आजकल इन बातों का कोई मतलब नहीं रह गया है। अरे! यह विषयीमन ही चन्द्रमा है। विषय में रहने से कलंकित हो गया है। कपट और कुटिलता से भरा हुआ है - इसलिए वक्र है, टेढ़ा है। तो जब कोई साधक इस मन को समेटकर गुरु के चरणों में डाल देता है। मन से संत सतगुरु की शरण में चला जाता है उनका आश्रय ले लेता है तब इस मन का सुधार होता है। और शंकर के सिर पर रहने का मतलब यह समझना चाहिए कि साधक का सारा भार फिर सद्गुरु के ऊपर आ जाता है। उसका योग-क्षेम फिर, गुरु भगवान् देखते हैं। पूरे मन से गुरु के आश्रित हो जाय बस। समर्पण के बाद फिर साधक की जिम्मेदारी गुरु के हाथों में आ जाती है। यह काया ही काशी है। इसी को कैलाश कहते हैं। इसका अधिष्ठाता है शंकर। इस शरीर - के अन्दर सब हैं - विष्णु, ब्रह्मा, शंकर। बाहर ये सब कहीं हैं नहीं। होते तो दिखाई पड़ते। तो ये सब सूक्ष्म तत्व हैं। स्थूल शरीर स्तर पर सत्य का रूप शंकर का है। इस स्तर पर संत ही शंकर हैं। उन्हीं को पकड़ना है। गुरु का आश्रय लेना है। उनमें मन को लगाना है और सेवा समर्पण के द्वारा उनकी अनुकूलता, उनकी कृपा हर हालत में प्राप्त कर लेना है। वही तो भगवान है। गोस्वामी जी कहते हैं - 'जानेहु संत अनंत समाना।' संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं। इस तरह से आत्म कल्याण के मार्ग में आरुढ़ होने के लिए जरूरी-जरूरी बातें इसमें रख दी गई हैं यहां मंगलाचरण में। क्योंकि यह मानस है। गोस्वामी जी की शैली से मानस की भूमिका इस तरह से बनती जा रही है - एक साधक के अन्दर आने वाली बातें हैं सब।

दो. - बंदउ गुरु पद कंज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
 महा मोह तम पुंज, जासु बचन रबिकर निकर॥
 बंदउं गुरुपद पदुम परागा। सुखि सुवास सरस अनुरागा॥
 अमिय मूरिमय चूरन चारु। समन सकल भव रुज परिवारु॥
 सुकृति संभु तन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
 जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुनगन बस करनी॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि गुरु नर रूप में हरि हैं - भगवान ही हैं। अभी पहिले तो शंकर कहा, अब भगवान कह दिया। तो दोनो ठीक हैं। साधक की स्थिति के अनुसार दोनो रूपों में गुरु को स्थापित किया जाता है। सद्गुरु सत्य-आत्मा का

स्वरूप होते हैं। भगवान ही हैं। स्थूल स्तर की साधना में साधक जब उनके स्थूल रूप को लेकर चलता है तो उन्हें शंकर कह सकते हैं। स्थूल का अधिष्ठाता सत्य शंकर का रूप है। वही स्वरूप आगे चलकर ज्योतिर्लिंग और फिर आत्मा का रूप लेगा। तो बात दोनों सही है। सत्य तो एक आत्मा ही है। मानस की शैली से लेने पर सही तथ्य यह है कि सत्य (आत्मा) एक ही है। साधनात्मक स्तर भेद से उसी को अनेक नामों से कहा जाता है - राम, पुरुष, प्रज्ञा, साक्षी, महेश्वर, शंकर, संत, सद्गुरु, हरि आदि। एक है वह सत्य। प्रेक्टिकल क्षेत्र में क्लियर दिग्दर्शन होता है। थेवरी में उलझ जाओगे। तो वह आत्मा ही है परम हितैषी - चाहे उसे गुरु कहो चाहे ज्ञानी कहो, चाहे शंकर कहो, चाहे संत कहो, चाहे भगवंत कहो, चाहे नरहरि कहो - उसके अलावा कुछ है ही नहीं। साधना में जहां जैसी जरूरत है, उस रूप में वह मदद करता है। शुरु में वाणी द्वारा, सत्संग के जरिए कुछ आदेश-निर्देश होते हैं। फिर आगे बढ़ गया साधक, तो अंतर्जगत से आत्मिक निर्देश मिलने लगते हैं। दोनों रूपों में वही बोलता है। वही (परमात्मा) गुरु का वास्तविक स्वरूप है - 'जगद्गुरुं च शाश्वतं तुरीय मेव केवलं।' इसलिए गुरु ही भगवान है, भगवान ही गुरु है, और वही शंकर है। शरीर धारण किए हुए स्थिति प्रज्ञा संत सद्गुरु को शंकर कहते हैं। और शरीर से अलग उसकी निर्लेप आत्म स्थिति में उसी को राम कहते हैं, भगवान कहते हैं।

गोस्वामी जी कहते हैं - सद्गुरु के वचनों से साधक के हृदय से मोह का अंधेरा दूर हो जाता है। गुरु के वचनों से जो ज्ञान का प्रकाश अन्दर आया, उससे मोह नष्ट हो जाता है। ज्ञान आ जाय, मोह नष्ट हो जाय - इतना ही तो कुल मामला है। इसी के लिए साधना है, इसी की रामायण बनी है। साधक के अन्दर ज्ञान का स्वरूप राम का है, मोह का रूप रावण है। रावण ने जमावट ले रखी है। उसे उखाड़फेंकना है। ज्ञान स्वरूप राम ही कर सकता है यह काम। तब इस जीव रूप विभीषण को मुक्ति मिल जाएगी। राम राज्य हो जायगा - इस शरीर रूपी अवध में। फिर खुशी मिल जायगी। यह सब शुरु से रास्ता बताते जा रहे हैं।

फिर आगे गुरु के चरणों की रज की वंदना है। गुरु महाराज के चरण-कमल का पराग ऐसा है कि साधक की सुरुचि उसमें सुगंध भरी है, और अनुराग का रस भरा है। अब गुरु के चरण तो यहां हैं बाहर और साधक की रुचि - अनुराग हैं अन्दर की चीज। तो यह कैसे साथ बनेगा? मतलब यह है कि गुरु भगवान के चरणों को हृदय में ले लिया जाय। और खूब रुचि के साथ अनुराग युक्त होकर गुरु-चरणों का

ध्यान किया जाय। रुचिपूर्वक लगने पर सुवास अर्थात् सुगंध मिलने लगेगी - संकेत पकड़ में आने लगेंगे। सुवास का यह भी मतलब है कि साधक का मन गुरु के चरणों में निवास बना लेगा - हटेगा नहीं बिल्कुल और साधक को उसमें रस मिलने लगेगा। अनुराग बढ़ जाएगा। 'यह सब मिलकर संजीवनी बूटी का काम करेंगे, अमरत्व प्रदान करेंगे। उस चरण रज से इस मन रूपी दर्पण को निर्मल बना लिया जाय। अमियमूरिमय - यह संजीवनी जड़ी का चूरन है - चरणों की रज। और यह चूरन भवरोग की असली औषधि है। कल्याण करने वाली है। और भी सब कुछ देने वाली है। तो जिसके मन में ईश्वर के लिए अभिरुचि जाग जाय और पूर्व पुण्यों के प्रभाव से सद्गुरु से भेंट हो जाय और गुरु के चरणों में अनुराग पैदा हो जाय, श्रद्धा-विश्वास आ जाय तो उसका कल्याण हो जाएगा। फिर कोई बाधा नहीं रह जाती। गुरु भगवान सब संभाल लेते हैं। इस तरह से ये सब प्रैक्टिकल (क्रियात्मक) करने वाली बातें हैं साधना की।

बंदुं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥

गोस्वामी जी हमेशा संत को ही महीसुर, भूसुर, विप्र, द्विज आदि शब्दों से पुकारते हैं। जातिगत आधार पर ब्राह्मण से मतलब नहीं है। मोह जनित शंकाओं का विनाश केवल संत-सद्गुरु ही कर सकते हैं। इसलिए उनकी वंदना पहले कर लेते हैं। जो शम, दम आदि से युक्त हैं, जिन्होंने साधना करके ब्रह्म को प्रत्यक्ष किया है, वे संत-महापुरुष ब्राह्मण कहे गए हैं। ऐसे संतों का आश्रय लिए बिना साधना नहीं होती।

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा।

व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

इन शब्दों से यह समझ में आ जाना चाहिए कि भगवान का रूप चिन्मय आकाशवत् आत्मा का है। वह सबमें व्यापक भाव लिए हुए है। अज अविनाशी है। सबके शरीरों में वही आत्मा है। लेकिन वह उन भक्त साधकों के अन्दर स्पष्ट हो जाता है, जो उसके लिए प्रयासरत रहते हैं, और उस (आत्म स्वरूप) को पाने के लिए लगन करते हैं - भक्ति करते हैं। उन्हीं भक्तों में उदीयमान होकर चरित दिखाता है वह परमात्मा। है तो वही सबके अन्दर - स्पष्ट होता है केवल भक्तों के अन्दर। भक्त वे हैं जो भक्ति करके, भजन-साधन करके, भगवान को अपने अन्दर

प्रादुर्भूत करते हैं। जीवात्मा तो परमात्मा का रूपही है। वह आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल तत्व है।

‘ईश्वर अंश जीव अनिवासी। चेतन अमक सहज सुखरासी॥

सो माया बस पर्यो गोसाईं। बंध्यो कीर मर्कट की नाईं॥’

अज्ञान के कारण, भ्रम वश अपने स्वरूप को भूल गया है। असत्य संसार को सत्य मान लिया है। माया की आवरण और विक्षेप शक्ति से, वह चेतन आत्मा ढक गया है। झूठे जड़ पदार्थों में – देह गेह में ममत्व कर लिया है, मैं-मेरा में फंस गया है। बंधा हुआ नहीं है, तो भी अपने को बंधा हुआ मान लिया है। बंदर और तोता की तरह से, अपने ही भ्रम के कारण बंधन में आ गया है।

‘जड़ चेतनहिं ग्रंथि परिगई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥’

शरीर में आसक्ति हो गई। बंधन में आ गया। आसक्ति की गांठ लग गई। तो दीन-हीन हो गया है। काम, क्रोध, लोभ, मोह में फंस गया है। ये सब निशाचर इसकी दुर्गति किए पड़े हैं। इस काया रूपी किले में दबा पड़ा है। और है कुछ नहीं, झूठी माया अपने से रच लिया है – और उसे सही माने है।

‘रविकर नीर बसै अति दारुण, मकर रूप तेहि माहीं।

तुलसीदास सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥’

पानी है ही नहीं, और पानी में मगर घसीटे लेता है। यह अचम्भा देखो। इसे कहते हैं माया। है नहीं, फिर भी है। जैसे सपने में देखो कि कोई सिर काटे डालता है, तो रोते चिल्लाते हैं। बस ऐसा है यह,

‘जौ सपने सिर काटे कोई। बिनु जागे न दूर दुख होई॥’

क्या जाग जाने पर फिर रोता है? फिर नहीं रोता। जब तक स्वप्न देखता है तब तक दुःखी रहता है। क्योंकि झूठे स्वप्न को भी, स्वप्न काल में सही मानता है। इसलिए एक ही इलाज है कि जाग जाय। और कोई इलाज नहीं।

‘कहैं वेद बुध तू तौ बूझ मन माहिं रे।

दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥’

अभी तो सो रहे हैं, और सपना देख रहे हैं। गोस्वामी जी कहते हैं –

‘मोह निसा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥’

तो संसार की आसक्ति में पड़े रहना ही, जीव का सोते रहना है। संसार के पदार्थों को इसके क्रियाकलापों को सत्य मानकर लेना सपना देखना है। और जागना

है, कि हम इस प्रपंच से मतलब नहीं रखते। यह है ही नहीं। संसार से आसक्ति हट जाय। परमात्मा में जागृति आ जाय। संसार से वियोग हो जाय, आत्मा से योग हो जाय। तब जागा हुआ माना जाएगा। ऐसे योगी इस संसार रूपी रात में जागते हैं।

“चा निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी॥”

जीव को जागा हुआ माना जायगा अगर उसे गुरु की कृपा से संसार की असत्यता का बोध हो जाय और उसमें आसक्ति न रह जाय। वैराग्य आ जाय अन्दर।

‘जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥’

ऐसे जागे हुए जीव में परमात्मा प्रगट होकर लीला करते हैं। ऐसे भक्तों के लिए ही भगवान आते हैं। उसके शरीर को अपना धाम बनाते हैं। भगवान कहते हैं विभीषण से कि -

‘तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरुं देह नहिं आन निहोरे॥’

ऐसे संत साधकों के अन्दर भगवान का अवतार होता है। ऐसे ही साधकों के शरीर को अपना घर बना लेते हैं। उस देह को धारण करके उसमें लीला करते हैं। आत्मा है भगवान, शरीर भगवान नहीं हुआ करता। शरीर तो पांच तत्वों के मेल जोल से बनता है। प्रकृति क्षेत्र की चीज है।

‘छिति जल पालक गगन समीरा। पंचरचित अति अधम शरीरा।’

इस शरीर में जो चेतन आत्मा है, वह भगवान का रूप है। वह सब शरीरों में है। भक्त (साधक) के शरीर में, साधना के परिणाम स्वरूप वह स्पष्ट हो जाता है।

‘सो केवल भगतन हित लागी।’

इसका यही मतलब है कि भगवान उन्हीं के लिए सुलभ है जो भक्त-साधक सब कुछ का त्याग करके भगवान को पकड़ ले। उसके लिए गर्दन देने को तैयार रहे। और सेवा करके सद्गुरु का कृपापात्र बन जाय। ऐसे तो सबका है भगवान, सब परेशान हैं ईश्वर के लिए। लगभग 80 से 90 प्रतिशत लोग किसी न किसी रूप में ईश्वर के लिए लगे हुए हैं। लेकिन ईश्वर का पता तो कभी कोई ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा, तुलसी और कबीर जैसा ही पाता है।

व्यापक, एक, ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी॥

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥

गोस्वामी जी ने सबकी वंदना कर लिया, कोई बचा नहीं। क्योंकि सब राम का ही रूप है, जितना जड़-चेतन का विस्तार है यह।

‘जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।

वंदउं सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि।।’

इस भाव से सबकी वंदना करना ठीक ही है। अब राम नाम की वंदना करते हैं। और नाम को राम से भी बड़ा बताते हैं। क्योंकि नाम के द्वारा उसे जाना जाता है। नाम-जप के द्वारा परमात्मा के वास्तविक रूप को जान सकते हैं। जो व्यापक है, एक है शुद्ध, बुद्ध अविनाशी, सच्चिदानन्द घन आत्मा के रूप में सबके हृदय में रहता है और उसके रहते हुए भी, उसी आत्म स्वरूप को न जान पाने से सारे जीवदुखी व दीन हीन बने रहते हैं। तो नाम-जप इतना अच्छा साधन है कि उस आत्मस्वरूप को पकड़ सकते हैं, इसकी मदद से। गोस्वामी जी कहते हैं -

सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह विशेषे।

नाम जपने से हृदय में क्लियर हो जाता है। इसलिए निर्गुण - सगुण दोनों से बड़ा नाम को कह दिया। साधन को साध्य से बड़ा बता दिया।

गोस्वामी जी ने मानस में नाम की साधना को सबसे बड़ा महत्व दिया है। लेकिन नाम की महिमा का निरूपण नाम की साधना करने से हो सकता है। जप की क्रिया में लगने से नामी का पता लग जाता है।

इसलिए नाम का निरूपण करना चाहिए। उसकी कीमत का पता लगाना चाहिये। और नाम से ही उसकी कीमत का पता लगेगा - ‘नाम जतन ते।’ नाम में लगने पर, जिसका हम नाम लेते हैं, वह परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे रत्न से उस रत्न का मूल्य निकल आता है।

‘नाम निरुपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतनते।।’

कैसे पता लगेगा? रत्न जहां देखा, यह रखा हुआ है हीरा, तो मोल होने लगेगा। जौहरी ने देखा। सोचा, कितने का होगा? हाँ, 1 लाख का है। तो नाम की कीमत भी कई तरह से है। नाम कई तरीके से लिया जाता है। बैखरी, मध्यमा, पश्यंती, परा, अजपा-किस तरीके से, उसे जपना है? क्या हमारी योग्यता है? किस भूमिका में उससे काम लेना है, कैसे हमको राइज (उठाना) करेगा? यह हमारी स्थिति के अनुसार होगा।

यहां तक कि -

‘बारक नाम जपत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥’

एक बार नाम लिया, तो संसार को तरने की ताकत आ गई और दूसरे को तारने की ताकत आ गई- ‘होहिं तरन तारन - एक बार नाम जपने से ऐसी क्षमता आती है। स्वयं पार हो जाता है, और दूसरे को पार करा देता है। अब एक बार कैसे ? उधर यह भी है कि -

‘जनम जनम मुनि जतन कराहीं। अंतराम कहि आवत नाहीं।’

इसमें तो जनम-जनम, अनेक जन्म लगे रहने का विधान है। और फिर कहते हैं- एक बार। एक बार का मतलब है - एक को पकड़ लो, दो को नहीं। वैचारिक ढंग से एक हो जाय। कर्तव्य के ढंग से एक हो जाय। एकनिष्ठ हो जाय। और फिर उसमें भजन करना चाहिए। उसमें माला पहनना चाहिए। उसमें अगर कोई शंकाएं आती हैं, तो उनका समाधान करना चाहिए। और इस तरीके से एडजस्टिंग (समायोजन) करके, जो अपने आप में मस्त रहता है, वह ठीक है।

निश्चय को बदलेंगे नहीं, निश्चय को गलत तरीके से नहीं देखेंगे, चाहे हम नरक में जायें। जो निश्चय कर लिये, उसे बदलेंगे नहीं। तो ऐसी स्थिति में जो हमारी कमी है, वह भी पूरी हो जाती है।

दो. रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु।

तुलसी सुमग सनेह वन, सिय रघुवीर विहारु॥

नाम की महिमा बताया और अब राम कथा के विषय में बता रहे हैं। यह रामकथा गुरुओं से मिलती है। संतों की परम्परा में यह ‘कथा राम कै गूढ़-’ चलती आ रही है। यह अन्दर की चीज है। साधक के अन्दर जो साधना चलती है, वही गूढ़ राम कथा है। यह राम कथा बाहरी कहानी नहीं है। चित्त में चलने वाली साधनात्मक प्रक्रिया की अखण्ड धारा है। चित्त रूपी चित्रकूट में प्रवाहित होने वाली मंदाकिनी जैसी है। वह प्रक्रिया है, जो मन को दागने वाली है। मन को नियंत्रित करने वाली है। साधक के अन्दर जो अनुराग रहता है ईश्वर के लिए, उस ईश्वरीय प्रेम रूपी जंगल में बहती है यह मंदाकिनी। यह रामकथा रूपी मंदाकिनी जिसके अनुराग युक्त चित्त के अन्दर बहने लगती है, तो वही चित्त भगवान का निवास चित्रकूट बनता है। भगवान उस साधक के अन्दर डेरा जमा लेते हैं। इसलिए जो भगवान को चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि अपने चित्त को चित्रकूट बना लें। कब बनेगा यह चित्रकूट, कि जब खूब भगवान के लिए प्रेम अन्दर आ जाय। भजन की प्रक्रिया अनवरत चलने लगे - यह राम की कथा अन्दर चलती रहे। तो भगवान फिर उसके अन्दर स्फुरित हो

जायगा और पर्णकुटी बनाकर रहने लगेगा। उस चित्त रूपी चित्रकूट में। कामद गिरि की छाया में रहते हैं। कामद का अर्थ है, कामनाओं का दहन होना। जब साधक के अन्दर सब तरह की कामनाओं का दहन हो जाता है। कोई इच्छा न रह जाय, बस भगवान मिले - ऐसी धारणा जिसकी बन गई है वही श्रेष्ठ भक्त है, - उसे अपना लेते हैं भगवान।

तो यह अन्दर की रामकथा है। यह साधना की गतिविधि जो साधक के अन्तर्जगत में चलती है, वह रामायण है असली। वह गूढ़ तो है, लेकिन धीरे-धीरे समझ में आ जाती है। उस रामायण को पढ़ना है - उसका नाम है राम चरित मानस। 'राम के चरित मन से'। अपने मानस में इसको लेना है। मानस का बोध तब सही माना जायगा। हर साधक व्यक्तिगत रूप से अपने मानस में इसकी एडजस्टिंग (समायोजन) करे। यह व्यक्तिगत निजी रूप से अपने लिए है। समूह में साधना नहीं होती। भजन व्यक्तिगत होता है। इसलिए क्या कहते हैं गोस्वामी जी ? कि -

‘निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करुं कथा भव सरिता तरनी।।’

मतलब कि गोस्वामी जी की व्यक्तिगत साधना जैसे चली उनके अन्दर - वह बात पूरी मानस की लिख रहे हैं। मानस के राम चरित हैं इसमें। वही कल्याण करने वाली चीज है। उसी मानस-साधना से, ज्ञान-ध्यान से, अन्दर के संदेह, मोह, भ्रम सब मिटते हैं। अपने में साधक, भजन की क्रिया को न अपनाएगा, अपने में सुधार न लाएगा, तो समूह में बैठकर यह कथा सुनने मात्र से कुछ न होगा। तो यह रामायण क्रियात्मक है। मानस में लेने की चीज है, अपने अन्दर क्रिया में लेने की चीज है। केवल पढ़ लेने से पूरा लाभ नहीं मिलेगा।

रवि महेश निज मानस राखा। पाइ सुसमय सिवा सन भाषा।।

ताते राम चरित मानस वर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर।।

यहां स्पष्ट कर दिया कि शंकर स्वरूप जो संत हैं, उन्होंने अपने मानस में अर्थात् मन के अन्दर जो संरचना की थी - जो साधनात्मक चार्ट बनाया था और समय-समय पर भगवत्प्रेमी साधकों को बताया था, वही है यह रामायण। इसलिए मानस की चीज होने से - अन्तर्जगत की चीज होने की वजह से इसका नाम 'राम चरित मानस' रखा गया है। 'राम चरित मानस' अर्थात् मन के अन्दर जो राम के चरित होते हैं। अन्दर की गतिविधि में राम चरित को देखा गया और उसे बाहर की कथा का रूप दिया गया है। तो अब पढ़ने-सुनने वालों को भी इसके कथानक को

अपने मानस में लेना चाहिए। अगर रामचरित मानस का असली रूप देखना-समझना है, तो मानस के अर्थ में इसे ग्राह्य बनाना पड़ेगा। यहाँ मानस की रूपरेखा जो लिखी गई है, उस पर बहुत सी बातें पहिले भी हम बता चुके हैं। मूल चीज इतनी है कि मन हमारा आत्मोन्मुख जो जाय - अन्तर्जगतीय साधना में लग जाय - तो इसकी विषय उन्मुखता समाप्त हो जाय। बस यही मूलमंत्र है।

‘मन करि विषय अनल बन जरई। होई सुखी जौ यहि सर परई॥’

मन बाहर संसार के विषयों में न जाय, अन्दर भगवान में लग जाय तो सब काम बन गया समझो। इसीके लिए सब उपाय-तरीके और कायदा-कानून इसमें दिए गए हैं। मन जब आत्मोन्मुख हो जाय, तब यह मानस बनता है। इस मानस का रूप खड़ा करना है, और वहां मानसरोवर में कुछ नहीं रखा है। अपने-अपने मन को मानस बना लो और फिर उससे श्वासा रूपी सरयू की धारा में राम चरित का प्रवाह चले। यह अमृत का प्रवाह अपने-अपने मानस से बहाओ-तब फिर यह प्रवाह ले जाकर तुम्हें भक्ति रूपी गंगा से भेंट करा देगा। और वह आत्मा रूपी सागर में समाहित कर देगी। ‘राम सरूप, सिंधु समुहानी।’ इतना है कुल राम चरित मानस। संक्षेप में जो बता दिया जाता है, उसे हृदयंगम करते चलो, और ज्यादा समय भजन में लगाओ। करने का ही महत्व है। साहित्य में पड़ जाओगे, तो भजन छूट जाएगा।

संवत सोलह सौ इक्कीसा। करउं कथा हरिपद धरि सीसा।

‘नौमी भौमवार मधुमासा अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥’

अवधपुरी में, अर्थात् इस मानव शरीर के अंदर मानस की रचना होती है। चैत के महीने में, नौमी तिथि को, मंगलवार के दिन शुरुआत होती है। इसका मतलब कि जब चेत जाय, जब होश आ जाय आदमी को, तब वही मंगल का दिन है। मानो कल्याणकारी घड़ी आ गई। और नौमीतिथि का मतलब ये सब जो नौ-दस इंद्रियां हैं, ये अनुकूल हो जायं, तब मानस बनना मानो शुरु हो गया। कहते हैं -

‘जबै चेतै तबै सुधरै।’

तो अगर अन्दर से यह जागृति आ जाय कि अब हम इस मिथ्या संसार से मतलब नहीं रखेंगे। हम सत्य परमात्मा को पकड़कर रहेंगे। अगर ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया जाय, तो वही मंगल का समय है। इसी के आगे फिर साधना, की शुरुआत होती है। मानस बनता चला जायगा। राम के चरित उसमें सब आते चले जाएंगे। करते-करते एक दिन राजगद्दी का समय आ जायगा। कल्याण हो जायेगा। इसलिए - चेतोरे भाई, तेरा आवागमन मिट जाई।

एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आश्रमन्हि सिधाए॥

जाग बलिक मुनि परम विवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥

इस तरह से यह रामायण की भूमिका बनती है। प्रयाग कहते हैं कि जहां विशिष्ट यज्ञ होता है। यजन रूपी यज्ञ हृदय में होता है। यह हृदय ही प्रयाग है। यहीं पर भजन रूपी भरद्वाज रहता है। जानकारी है याज्ञवल्क्य। दोनों का मिलाप हुआ। साधक अपनी जानकारी के अनुसार भजन करने लगता है, तो साधन क्रम से आगे की जानकारी भी मिलती जाती है। जानकारी को रख लिया और भजन की प्रक्रिया में उसे ले लिया यह याज्ञवल्क्य का सम्मान करना है। जानकारी के अनुसार क्रिया न करे, तो यह उसका तिरस्कार करना है। तो यह इन दोनों का सम्मेलन माघ में होता है। जब माघ (मा + अघ) – अर्थात् अघ से रहित हो गया। न रह गया अघ। और मकर गत हो गया, मतलब साधक का मन क्रियोन्मुख हो गया। अर्थात् जब साधक अन्तर्मुख होकर साधनात्मक प्रक्रिया में लगता है, तब यह संयोग बनता है कि सारे तीर्थ उसे वहीं अपने अन्तर्जगत में मिल जाते हैं।

माघ मकर गत रवि जब होई। तीर्थ पीतहिं आज सब कोई॥

सब देवता, ऋषि, मुनि अन्दर देख लेता है। तब उसे सब तत्व ज्ञान अन्दर से मिलने लगता है। सही जानकारी और भजन की सही गतिविधि जब पकड़ में आती है, उस अवस्था का यह प्रसंग है। तब फिर राम-चरित शुरू हो जाएंगे। लेकिन अभी राम का प्रादुर्भाव तो हो जाय। इसी का उपाय अब होने जा रहा है। तो भजन करते हुए भी साधक एकाएक राम को हृदयंगम नहीं कर पाता। स्थूल जगत का अभ्यास बना रहता है, इसलिए सूक्ष्म की पकड़ हो नहीं पाती। भजन करता रहे तो धीरे-धीरे सब ठीक हो जाता है। तो यह भजन रूपी भरद्वाज, जानकारी रूप याज्ञवल्क्य को अपना रहा है, पूछता है कि यह बाहर वाला राम जो दशरथ का पुत्र हुआ, वही भगवान है, या कोई और चीज है परमात्मा। वह तो राम, स्त्री के विरह में दुखी हुआ। क्रोध के वशीभूत होकर रावण को मारा – यह काम, क्रोध तो होता नहीं भगवान में – तो यह कैसा भगवान है? आप बताइए। इस तरह से साधक के अन्दर खोजबीन शुरू हो जाती है।

दोहा – प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि।

सत्य धाम सर्वज्ञ तुम्ह, मुनिवर कहहु विचारि॥

गोस्वामी जी महान संत थे, विद्वान भी थे। इसलिए उन्होंने मानस की रचना की है। मानस का अर्थ है मन। मन की कैसी क्या गति विधि है, इसकी संरचना है यह।

इसलिए इसकी गहराई की थाह सब नहीं लगा पाते। इसमें जिन संत महापुरुषों ने अवगाहन किया है, वे जानते हैं। उनके पास है इस मानस की कुंजी। इसलिए गोस्वामी जी कह देते हैं कि - **‘जो नहाइ चह यहि सर भाई। सो सतसंग करउ मन लाई॥’** संत बता सकते हैं इस मानस का रहस्य। तो अब यह प्रश्न साधक के अन्दर का है। बाहर की बात नहीं है। बार-बार यह शंका आती है। यही प्रश्न और इसी का समाधान गोस्वामी जी ने पूरी रामायण में लिखा है। और राम को सही रूप में प्रत्यक्ष करने के लिए ही साधना चल रही है। अब याज्ञवल्क्य बताएंगे कि यही प्रश्न पार्वती ने शंकर जी से किया था। और फिर जो चरित्र हुए; कैसे पार्वती को कथा सुनाया, सब बताएंगे। ऐसे ही शंकर जी भी जब पार्वती को पूरी कथा सुना देंगे, तो अन्त में कह देंगे कि इसी तरह गरुड़ ने कागभुसुंडि से पूछा था। तो मतलब इसका यह हुआ कि भजन करतेहुए भी साधक के अन्दर सत्य को प्रत्यक्ष करने की कोशिश प्राप्तिकाल तक बनी रहती है। इसी का नाम साधना है। बाहर से मतलब नहीं है। बाहर की बात तो अभी आगे अयोध्याकाण्ड में पढ़ेंगे कि भरद्वाज के यहां जब राम पहुंचे तो भगवान की तरह माना। सबने ऐसे ही माना जितने ऋषि मुनि मिले। तो फिर क्यों जाने देते, पकड़ क्यों न लेते भगवान को। भगवान के लिए ही तो खाक छान रहे थे सब। लेकिन सबने सामान्य शिष्टाचार किया और जाने दिया। हां, सबने यह जरूर कहा, कि आप मेरे हृदय में बास करिए। इसलिए कहा कि भगवान की जगह अपने अन्दर ही है। हृदय में रहता है जो भगवान, वह असली है। वह आत्मा है अपना। अपना स्वरूप है। उसे पकड़ना है, उससे मिलना है। वह मिल जाय तब फिर बाहर भी वह सबमें दिख जाएगा। और नहीं तो माया ही माया है, जहां तक देखो।

‘गो गोचर जहं लगिमन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥’

इसलिए भगवान केवल त्रेता, द्वापर की चीज नहीं है। परमात्मा काल-बाधित नहीं होता। संसार काल बाधित होता है। परमात्मा सत्य है, संसार असत्य है।

‘सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार।’

इसलिए हम बार-बार कहते हैं - अन्तर्मुखी बनो बहिर्मुखता छोड़ो। भटको मत।

दो. - कहउं सो मति अनुहारि अब, उमा शंभु संवाद।

भयउ समय जेहि हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि विषाद॥

एक बार त्रेता युग माहीं। शंभु गए कुंभज ऋषि पाहीं॥

संग सती जग जननि भवानी। पूजे ऋषि अखिलेश्वर जानी॥

त्रेता युग का मतलब है कि मन में त्याग आ जाय। संसार से मन हटकर ईश्वर में लगने लगे तब उस साधक के अन्तर्जगत में यह सब बातें आती हैं, जो इसमें लिखी हैं। तथा सत्य-शंकर कुंभज के पास, अर्थात् कुंडालिनी में चले जाते हैं - अर्थात् साधक अपने अन्दर लेता है ईश्वर को, तब अन्दर यह रूपरेखा बनती है। सती का मतलब है साधक की सत्य के प्रति आस्था। शुरु-शुरु में जो ईश्वर की तरफ रुझान बनता है, वही सती है। यह दक्ष की पुत्री है; दक्ष से पैदा हुई है। दक्ष कहते हैं दक्षता, जो बाहरी संसार की जानकारी है। उसी में ऊपरी बातें शास्त्रीय ढंग की, ईश्वर के विषय में भी आती हैं, और उनके असर से ईश्वर से लगाव स्थूल स्तर का बन जाता है। यह शुरु में जो श्रद्धा साधक के अन्दर आती है वह सती है। शंकर, जो स्थूल का अधिष्ठाता सत्य का रूप है, उससे जुड़ जाती है। फिर जब साधक की साधना आगे बढ़ती है सूक्ष्म स्तर पर, तो वहां यह काम नहीं करेगी। इसलिए इसका रूप बदल जाता है - तब प्रेमाभक्ति स्वरूप पार्वती बनकर हृदय रूपी हिमालय के घर आ जाती है। मैना से पैदा होती है। मैना का मतलब मै नहीं। जब साधक का मै भाव नहीं रह जाता, तब यह प्रेमाभक्ति पैदा होती है। अब भगवान ही सर्वेसर्वा है, मै कुछ नहीं। यह समर्पण भाव बन जाय, और भगवान परीक्षा लेकर उसे स्वीकार कर ले - तब सही प्रेम माना जाएगा। तो परीक्षा के लिए साधना की सात भूमिकाएं, सप्तर्षियों के रूप में हैं। सप्तर्षियों से पार्वती ने कहा कि -

‘जनम जनम लागि रगर हमारी। बरउं संभु न तु रहउं कुमारी।।’

कितने ही जन्म लग जायं, हम भगवान को प्राप्त करके रहेंगे। छोड़ेंगे नहीं, चाहे मर भले ही जायं।

‘हठ न छूट छूटै वरु देहा।’

जब ऐसी अटूट श्रद्धा साधक में आ जाती है, तो सत्य स्वरूप भगवान शंकर उसे अंगीकार कर लेते हैं। उस भक्त साधक को सद्गुरु का आश्रय मिल जाता है, जब ऐसी प्रेमाभक्ति के द्वारा पकड़ कर, भगवान को बाहर से समेट कर इस काया रूपी कैलाश में बैठा लिया जाता है, और अहर्निश मन वचन, कर्म से उसकी उपासना अन्तर्जगत में होने लगी तो फिर षट्बदन का जन्म होता है। ये षट् सम्पत्तियाँ - शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान मानो छः शस्त्रों के रूप में, षट्शास्त्रों का निचोड़ मिल गई। अब इनसे षट् विकारों का हनन किया जायगा - काम, लोभ, क्रोध, मोह, मद और मत्सर को मिटा दिया जायगा। इस तारकासुर को मार दिया जाएगा। तो ऐसा यह मानस का रूप खड़ा होता चला जाता है। अब यह प्रेमा भक्ति

स्वरूप पार्वती रामकथा का संचार कराएगी साधक के अन्दर। इसे सही तरीके से समझने के लिए मानस में केन्द्रित रहना पड़ेगा। मन बुद्धि को बाहर से समेटे रखना पड़ेगा। रुचि पूर्वक भजन में लगा रहे तो मानस के सब रहस्य खुलते चले जाते हैं।

अब जो बीच में कहानी है लम्बी चौड़ी, इसमें मतलब की चीजें लेते चलो। जैसे सती को मोह हुआ, इसका मतलब है कि बाहरी जानकारी से जो ईश्वर में श्रद्धा बनती है, उसमें भगवान को सही ढंग से समझ पाने की क्षमता नहीं होती। बताने पर भी लोग नहीं मानते – अपनी ही दक्षता को पकड़े रहते हैं। बाहरी ढंग में लगे रह गए। तो यह सती का हठ है दक्ष के यहां जाने का। और बाहरी तरीके में सत्य की जगह कहीं है नहीं – कतहुं न दीख शंभु कर भागा। वहां द्वैत में अद्वैत की जगह रहती नहीं। इसलिए सती रूप वह बाहरी वाली श्रद्धा-भक्ति जब जल-भुन जाती है, तब जो सही जगह है भगवान की – वहाँ हृदय में जाकर, वही श्रद्धा प्रेम, पार्वती का रूप है। अब बाहरी पूजा, अर्चना, तीर्थ, व्रत कर्मकाण्ड यह सब दक्ष का यज्ञ जो चला अभी तक, वह सब –सत्य की सही जानकारी से –विध्वंश हो गया। सत्य स्वरूप शंकर के गणों ने दक्ष के यज्ञ को विध्वंश कर दिया। फिर पार्वती की कहानी है। प्रेम है पार्वती – ईश्वर के लिए प्रेम हृदय में आ जाय, परमात्मा की तरफ रुचि बन जाय तो सब ठीक हो जाय। ‘यहि सेवत कछु दुर्लभ नाहीं।’ यही तो कहा था नारद ने हिमालय से। तो वहां कहीं नारद और हिमालय का संवाद नहीं हुआ – यह तो साधक के हृदय में बात आई अन्दर से। नारद कहते हैं – नभ को। तो यहां नारद के बताने का मतलब है कि साधक के अन्दर – उसके हृदयाकाश में यह बात आई कि यदि इस प्रेम को, इस प्रेमाभक्ति को बढ़ाया जाय, तप करके यह सोना कुन्दन बन जाय और हर कसौटी पर खरा उतर जाय तो फिर प्रेम भगवान को प्रत्यक्ष कर लेता है– प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना। यह प्रेमाभक्ति जो साधक के हृदय में पैदा हुई है, वह एक न एक दिन सत्य-शंकर को जरूर वर लेगी।

बीच में शंकर जी के द्वारा कामदेव को जलाने का प्रसंग आया है। तो कामदेव कोई आदमी तो है नहीं, जो धनुष बाण लेकर पहुँच गया। न वहाँ कोई शंकर बैठा है, जिसके ऊपर वह बाण चलाए। वहाँ तो बस साधक बैठा है। उसके अन्दर की बातें हैं सब। कामदेव विकार है मन का। जब विषय केसंकल्पों का आवेग आता है, तो बड़े-बड़े योगी, तपस्वी, डांवा डोल हो जाते हैं। ‘को अस काम नचाव न जेही।’ तो साधक को विषय वासना से बचना चाहिए। बस इतना याद रखो। अन्दर देखते रहो, कोई विषयात्मक संकल्प उठे, उसे वहीं दबा देना है विवेक के द्वारा।

‘तब सिव तीसर नयन उधारा। चितवत काम भयउ जरि छरा।।’

यह विवेक ही तीसरा नेत्र है। जिसके पास विवेक है वह सही है। आगे फिर शंकर की बरात-विवाह का लम्बा-चौड़ा प्रसंग है। तोयह सब गोस्वामी जी की शैली है। समाज के तौर तरीके बाहरी रूप से लेते गए हैं। प्राइमरी स्तर की बातें हैं। इनमें जनसाधारण की रुचि बनती है। पढ़ते-पढ़ते शायद कभी किसी को रास्ता पकड़ में आ जाए, इस ध्येय से ऐसी रोचक शैली में लिखा है उन्होंने। अब देखो कि शंकर जी की बारात में ब्रह्मा, विष्णु, देवता, भूत-प्रेत, लूले-लंगड़े, काने, बिना मुख के, अनेक मुखों वाले – न जाने कितने रूप आकार के भूत-भैरव, भवानी जुटे हैं। तो यह सब संकल्पों की दुनिया ऐसी ही होती है। अच्छे-बुरे, अधूरे, अस्पष्ट, सार्थक, निरर्थक, उल्टे-सीधे सब तरह के संकल्प मन में आते रहते हैं। यही सब बराती हैं। और दुनिया में ऐसा नहीं होता कि भूतप्रेतों की बरात ब्याहने जाय, और न कहीं पहाड़ कोई विवाहोत्सव रचाता है, जिसमें नदी, तालाब सब सम्मिलित होते हों। इन सबकी एडजस्टिंग (समायोजन) अपने अन्दर होनी चाहिए। साधकों के लिए यह जरूरी है। दुनिया की धारा में बह जाओगे, तो कहीं अता-पता न लगेगा। हाँ ‘जो लोग अभी प्रारम्भिक स्तर की बहिर्मुख प्रक्रिया में लगे हैं उनके लिए यह बाहरी भी उपयोगी है। अगर प्राइमरी का कोर्स न किया जायगा तो आगे की पढ़ाई नहीं हो सकती। यही आधार है। इसी ए.बी.सी.डी. को लेकर शब्द बनाए जाते हैं। वाक्य बनाए जाते हैं। पुस्तकें लिखी जाती हैं, तो इसका तो महत्व है ही। यही से चलकर सब आगे बढ़ते हैं, इसलिए महात्माओं ने सबके कल्याण के लिए ये ग्रंथ लिखे हैं। इनसे लाभ लेना चाहिए। सबको अपने ढंग से लाभ लेना है। जैसे सरोवर के पास कोई अपनी प्यास बुझाने के लिए जाता है, कोई नहाने के लिए जाता है, कोई उसकी रमणीकता देखने के लिए जाता है और मछुवारे भी जाते हैं – ये धंधा करने वाले। साधक को तो इसमें साधना की युक्तियों के मोती बटोरना है इसलिए उसे इस मानस में अवगाहन करना पड़ेगा – गहराई में डुबकी लगाना पड़ेगा।

दो. – मगन ध्यान रस दण्ड जुग, पुनि मन बाहेर कीन्ह।

रघुपति चरित महेस तब, हरषित बरगै लीन्ह।।

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने।

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथासपन भ्रम जाई।।

बंदउं बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।।

‘हर हिय राम चरित सब आए।’ हृदय में आ गए राम के चरित और उसमें निमग्न हुआ मन। फिरमन को बाहर लाए और बोलना शुरू किया। यह प्रक्रिया है।

पहले पूरा चार्ट अन्दर क्लियर (स्पष्ट) हो जाय, तब वाणी में आए। जिन्हें अन्दर राम का अता-पता कुछ है ही नहीं, उन्हें अधिकार नहीं है इसमें बोलने का। यह तत्त्वदर्शी महात्माओं का विषय है। अलौकिक क्षेत्र की बातें हैं - लौकिक शैली में लिख दी गई हैं। साधक जब सच्चाप्रेम हृदय में ले लाता है, सच्ची निष्ठा के साथ ईश्वर में लगन करता है, तो उसके अन्दर से परमात्मा बोलने लगता है, और उसे शंका समाधान अन्दर से मिलने लगता है। साधक अपनी योग्यता क्षमता के अनुसार राम के स्वरूप को पकड़े हुए है। अनुराग युक्त होकर नाम-रूप में लगा हुआ है। राम का-परमात्मा का-तात्त्विक स्वरूप हृदयंगम करना चाहता है - उसके लिए उत्कंठा बनी हुई है। जब तक वह नहीं मिलता तड़फड़ाता है। शान्ति नहीं आ सकती, संतोष नहीं आ सकता। तो जब अन्दर से ऐसी विकलता जागती है, तो भगवान की वाणी अन्दर से मिल जाती है। साधक समाधान पाकर कृतार्थ हो जाता है। तो यह सत्संग साधक के अन्दर का है। क्या समाधान मिलता है, कि - 'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।' यह निचोड़ है सब शास्त्रों का। इतना ही दर्शन है। जिसे इस असत्य संसार से मुक्ति पाना है, उसे यह करना पड़ेगा कि परमात्मा जो सत्य है, उसको प्रत्यक्ष कर ले। प्रकाश जहाँ आया, कि फिर अंधेरा नहीं रहेगा। आत्मा रूप में वह हमारे अन्दर है। उसमें मिलें, उसमें ठिकाना बना लिया जाय - बस इतना करना है। यह खुद अपने को करना पड़ेगा। एक के खाने से सबका पेट नहीं भरेगा। इसलिए साधक को खुद चलकर मंजिल तक पहुँचना पड़ेगा। जो सबमें व्यापक परमात्मा है, उसकी अपने में और फिर सर्वत्र, एकरस अनुभूति हो जाय तो माया का निषेध हो जाता है। इसे बोधकहो; चाहे मोक्ष कहो, चाहे मुक्ति कहो - सब कुछ इसी में है।

जब साधक भजन-ध्यान करता है, और अपने ध्येय में तन्मय होता है, और उसका मन सुषुप्ति की अवस्था में चला जाता है, तो उस एक क्षण भर के लिए वह जिस असंग आकाशवत् स्थिति का अनुभव करता है - वह समझो एक झलक है उसकी। वही छोटी सी झलक बालरूप है। उसे पाने के बाद साधक उसके लिए फिर पागल रहता है। उसी को देखना चाहता है। उसी के नाम की माला जपने लगता है। उसी में रमने लगता है। और रमते-रमते रम जाता है। राम मय हो जाता है। वह है बालरूप राम। बंदउं बालरूप सोई रामू। इस तरह से परमात्मा को न जानने से ही संसार है। जब समझ में आ गया कि यह बर्फ जो दिख रही है, यह पानी ही है - यह तो परमात्मा रूपी पानी ही आसक्ति की ठंडक से जड़ पदार्थ रूपी बर्फ बन गई है। पानी ही पानी है इसमें। यह पानी के अलावा कुछ है ही नहीं। तो इस बर्फ रूप

संसार को ज्ञान की गर्मी से गला दिया जाय और परमात्मा रूप पानी बना दिया जाय। तब यह समझ में आ जाएगा, कि इसके ये ढेला-सफेदी, ये सब रूप रंग सब असत्य हैं - इस संसार का रूप आकार और चमक-दमक यह सब है ही नहीं। लेकिन जब तक यह न गलाई जाएगी बर्फ, तब तक खाली वाक्य ज्ञान के भरोसे इसे टाला नहीं जा सकता। आसक्ति रूपी ठंडक बनी रहेगी, तो बर्फ गल नहीं सकती। आसक्ति से ही संसार है। आसक्ति आदमी के मन के अन्दर होती है। तो जो मूल है वह तो अन्दर है - उसे हटाए बिना, संसार से पीछा छूट नहीं सकता। इसलिए अपने अन्दर की खबर लेनी पड़ेगी। अगर ईश्वर को जानना समझना है, तो अपने अन्दर घुसना पड़ेगा। बाहर कुछ नहीं मिलेगा।

हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाय न सोई॥

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहि सयानी॥

तदपि संत मुनि वेद पुराना। जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥

तस मैं सुमुखि सुनावउं तोही। समुझि परइ जस कारन मोही॥

जब जब होइ धरम कै हानी॥ बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥

करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥

तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

बार-बार यही प्रश्न आ जाता है कि जो चिन्मय अविनाशी तत्व है, वह शरीर का रूप कैसे ले सकता है। यह तो स्थूल पदार्थ है, नश्वर है शरीर।

‘राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। सर्व रहित सब उर पुर बासी॥

नाथ धरेउ नरतन केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहुवृषकेतू॥’

पार्वती कहती हैं राम तो सब के अन्दर रहता है। सब शरीरों को धारण किए है। तो यह खाली एक राजा के लड़के को क्यों ऐसा कहते हैं आप, कि वह परमात्मा है’। ऐसे तोसब परमात्मा ही है, और है क्या’? तब शंकर जी ने कहा कि राम तो ऐसा है जो मन-बुद्धि से परे है। उसे न समझा जा सकता है, न बताया जा सकता। वह तो अनुभव स्वरूप है। ‘अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता। ‘अनुभवगम्य जो आत्मतत्त्व है, वह राम है, भगवान है। संत सब उसी को भजते हैं। उसी को जानना चाहते हैं, और उसे जान गए तो वही बन जाते हैं - वही जना देता है।

‘सोई जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं है जाई॥

तो अनुभव तो अपने अन्दर होने वाली बात है - इसलिए अन्तर्मुखता ही सही है। यह संतों का तरीका है। इसलिए आत्मानुभूति प्राप्त संत को भगवान कहा जाता

है। 'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं।' ऐसे संत महापुरुषों को शरीर धारी भगवान मान लिया जाता है, जिनमें परमात्मा प्रादुर्भूत हुआ है। राम, कृष्ण, बुद्ध, दत्तात्रय, कपिल, व्यास और भी न जाने कितने शरीरों में अवतरण हुआ भगवान का। इनमें अनेकों प्रकाश में आये, अनेकों महापुरुष गुप्त रह गए। दुनिया उन्हें नहीं जानती। जो समाज के बीच में रहे, उन्हें जान गई दुनिया - उन्हीं का नाम लेती है। यह तो संत-महापुरुषों की परंपरा हमेशा से चली आ रही है। ऐसा नहीं है कि एक त्रेता में, फिर एक द्वापर में। एक ही समय में अनेक हो सकते हैं। राम, परशुराम और भी कुंभज बगैरह का एक समय था। कृष्ण और व्यास आदि एक समय में हुए। यह परंपरा आज तक बराबर चली आ रही है - संत महापुरुषों की। तो अब समझ में आ गया होगा कि अवतार क्या है? कैसे किसी एक आदमी को भगवान कह दिया जाता है? ऐसा नहीं है कि भगवान कहीं रहते थे और फिर चले आए यहां अयोध्या। इस तरह आने जाने वाली चीज नहीं है परमात्मा। अब देखिए कि इस तरह से किसी नर-देह के अन्दर भगवान के प्रकट होने में हेतु क्या बनता है? 'नाथ धरेउ नरतन केहि हेतू?' इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं शंकर जी। 'जब जब होइ धरम कैहानी' यही बात गीता में कही गई है -

‘यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम् ।।’

यह दुनिया अच्छाई-बुराई, गुण-दोष, सुख-दुख, पाप-पुण्य, हेय-श्रेय के सर्कुलेशन (चक्र) से चलती है। दो से बनी है यह।

‘जड़-चेतन गुण-दोष मय विश्व कीन्ह करतार ।’

और इस दुनिया की - इस ब्रह्माण्ड की एक इकाई है यह मनुष्य का शरीर। इसका एक 'मॉडल' (नमूना) है छोटा। इसलिए कह दिया जाता है कि, 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' तो अगर इस पूरे ब्रह्माण्ड को देखना-समझना हो तो इस शरीर को नमूने के तौर पर समझ लिया जाय। पूरे ब्रह्माण्ड को इतने बड़े रूप में देखना-समझना संभव नहीं है। इसलिए यह नर-देह अनुसंधान के लिए सुविधा जनक मानी गई, और शुरू से ऋषियों-मुनियों ने इसमें अनेक-अलौकिक रहस्यों की खोज की है। आत्म-सत्ता, जो सबका मूल है, उसे भी इसी मानव-तन में प्रत्यक्ष किया गया। और पहले वाले लोगों ने जिस तरीके से उसे पाया, उस तरीके को अध्यात्म-विद्या कहा उन्होंने। सभी ऋषियों ने, संतों ने अपनी-अपनी रिसर्च किया। ये जो उपनिषद् और गीता-रामायण, सद्ग्रंथ हैं, ये सब उनकी थीसिसेज (शोध ग्रंथ) हैं

- सबके अलग-अलग। व्यास जी की महाभारत है, बाल्मीकि की रामायण है, तुलसीदास की मानस है, कबीर का अपना तरीका है और पुराने वालों की उपनिषदें हैं, योग है, न्याय है, सांख्य है। बहुत महात्माओं ने लिखा ही नहीं। तो इनमें बाद वालों ने, पहले वालों के द्वारा लिखी गई बातों को देखा-समझा और अपने अनुसंधान में उनकी मदद लिया। और उनमें कुछ कामन (सर्व सामान्य) सूत्रों को इकट्ठा कर लिया छंट-छंट कर। जैसे व्यास ने ब्रह्मसूत्र बनाया। पतंजलि ने योगसूत्र बनाया। तो फिर ये कुछ निर्धारित तरीके बन गए। इस तरह से यह जो आध्यात्मिक साधना का विषय है, यह मूल रूप में आत्मिक-अनुसंधान ही है। गीता में, रामायण में, उन तरीकों को लिखा गया, जिनको प्रयोग में लाया गया था, उन महापुरुषों के द्वारा। तो यह एक ऐसी बात है, जो गीता-रामायण दोनों में लिखी है कि भगवान का प्रादुर्भाव होने में यह परिस्थिति हेतु बनती है। भगवान का अवतार तब होता है, जब अधर्म बढ़ जाने से त्राहि-त्राहि मच जाती है। अशांति छ जाती है। सारे भूमण्डल में। महात्मा लोग कहते हैं - 'धड़-धरती का एकै लेखा। जो बाहर सो भीतर देखा।' और शास्त्र भी कहते हैं - यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे।

इसलिए इसी शरीर में, इसी धड़-धरती में जब अधर्म की बाढ़ से अकुलाहट आती है, तो भगवान के आने की भूमिका बनती है। आदमी अपनी ही आसक्ति से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष आदि राक्षसों को पाल लेता है। फिर इन्हीं के कारण परेशान हो जाता है। चारों ओर - मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में - अशान्ति छ जाती है। अच्छे काम ये दुर्गुण होने नहीं देते। तो इस हालत से यह जीव जब आतंकित होता है, और शान्ति पाना चाहता है, लेकिन कोई उपाय नहीं सूझता, तब भगवान की याद आती है। त्राहि-त्राहि करके जब पुकारने लगा, तो भगवान सुन लेते हैं। भगवान तो अन्दर बैठे ही हैं। सहारा दे देते हैं। उपाय निकल आता है। जिनके शरीरों में प्रक्रिया पूरी हुई, उनमें भगवान उदीयमान हो जाते हैं। भगवान किसी एक के लिए नहीं है, सबके लिए है, सब कर सकते हैं।

'तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा।' अनेक शरीरों में आते रहते हैं। जो भी कर ले पूरी प्रक्रिया, उसी का कल्याण हो जाएगा। तुम्हारे कर लेने से हमारा कल्याण नहीं हो जायगा, न हमारे कर लेने से तुम्हें मिल जाएगा। खुद अपने को करना पड़ता है। एक रोगी के दवा खाने से सब रोगी ठीक नहीं हुआ करते। यह तो भव रोग सबको लगा हुआ है। 'यहि विधि सकल जीव जग रोगी।' तो हर एक को दवालेनी पड़ेगी। वैद से मिलना पड़ेगा। अब यह दवा तो बताई जा रही है, कोई करे तो। भगवान की भक्ति है दवा। इसी मानस में बताया है उत्तरकाण्ड में -

“रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

सद्गुरु वैद वचन विस्वासा। संयम यह न विषय कै आसा॥

यहि विधि भलेहिं सो रोग नसाही। नाहित कोटि जतन नहिं जाही॥”

इस तरह से सद्ग्रंथ सब बता तो रहे हैं तरीका, अब उस तरीके को अमल में लाओ। रास्ता तो मिल गया, अब चलकर पहुंचो वहां तक। खाली बातें करते रहने से कल्याण नहीं हो जायेगा।

दो. - छल करि दारेउ तासुव्रत, प्रभु सुर कारज कीन्ह।

जब तेहि जानेउ मरम तब, श्राप कोप करि दीन्ह॥

तासु श्राप हरि दीन्ह प्रमाना। कौतुक निधि कृपालु भगवाना॥

तहां जलंधर रावन भयऊ। रन हति राम परम पद दयऊ॥

एक जनम कर कारन एहा। जेहि लागि राम धरी नर देहा॥

प्रति अवतार कथा प्रभु केरी। सुनु मुनि बरनी कविन्ह घनेरी॥

नारद श्राप दीन्ह एकबारा। कलप एक तेहि लागि अवतारा॥

ये सब अलग-अलग कल्पों में भगवान के अवतार के अलग-अलग कारण बता रहे हैं। इस तरह से -

“राम जनम के हेतु अनेका। परम विचित्र एक ते एका॥”

हर एक कल्प की अलग कहानी है। तो कल्प कहते हैं काया को। हर साधक की काया में अलग ढंग से भगवान को प्रादूर्भूत करने का तरीका बनता है। क्योंकि सबकी रुचियां भिन्न हैं, स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं, संस्कार भिन्न हैं। तो हर एक के अन्दर अलग-अलग कारण, अलग-अलग तरीका बन जाता है। इसलिए जिसको जैसे मिला भगवान, जैसे उसकी काया में चरित्र हुए, वैसे उसने लिखा, बताया।

‘कलप भेद हरि चरित सुहाए। भांति अनेक मुनीसन्ह गाए॥

तो सबके अन्दर काया भेद करके अलग-अलग हो गया। किसी की काया में जय-विजय की कथा कारण बन गई, किसी की काया में जलंधर आ गया रावन बनकर और तब राम के आने का उपाय बना। किसी के अन्दर नारद का प्रसंग, किसी के शरीर के अन्दर प्रताप भानु वाली घटना बन गई। ऐसे यह सबकी अपनी-अपनी राम-कहानी साधकों की अलग-अलग हो जाती है। तो ये जो कथाएँ लिखी हैं अलग-अलग कल्पों में भगवान के अवतार की, वे सब महात्माओं के द्वारा

लिखे गए उनके साधनात्मक चार्ट हैं, अनुभव हैं - हर एक के अलग-अलग। हर एक का अलग ढंग होगा। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं - “राम अनन्त अनन्त गुण, अमित कथा विस्तार।।”

ऐसे तो राम एक है- परमात्मा अनेक नहीं हैं। लेकिन कल्प-भेद से-काया-भेद से अनन्त हो जाता है। हर काया में आत्मा रूप से अलग ढंग से चरित कर रहा है - है वही एक। ये सब रहस्य की बातें हैं। प्राप्ति वाले महापुरुषों, ऋषियों की अपनी-अपनी रिसर्च हैं, जो उपनिषदों की, रामायण की, महाभारत की या पुराणों की कथाओं के रूप में समाज के लिए वे लिखकर छोड़ गए हैं। अब हम लोग - जो साधना करने वाले हैं- उन लोगों को इनसे लाभ लेना चाहिए। अपने अर्न्तजगत में इनका ट्रान्सलेशन कर लेना चाहिए। अपनी साधना में इनसे मदद ले लेना चाहिए। यह शैली ठीक है। और अगर बाहर की घटना मान लेगा कोई, तो गलत हो जाएगा। तर्क खड़ा हो जाएगा मन में, कि भगवान किसी वृन्दा जैसी सती स्त्री के साथ यह सब दुर्व्यवहार कैसे करेगा? उधर नारद उसी का भजन कर रहा है, उसी भगवान को शाप दे रहा है। यह सब तालमेल सही नहीं बैठता। तो देखो, यह सब संसार का तौर तरीका बाहरी इसलिए ले लिया जाता है कि समाज के लोग इसे ही जानते-समझते हैं। तो बाहरी ढंग से शुरू-शुरू में भगवान में रुचि बनेगी। फिर धीरे-धीरे अगर इधर लगा रहा, तो उसे एक न एक दिन सही तरीका पकड़ में आ सकता है। इसलिए भगवान को भी आदमी की तरह सब क्रियाकलाप करते हुए दिखा दिया गया है। अब भगवान कोई आदमी का शरीर तो है नहीं। वह तो शुद्ध, बुद्ध, अरूप, अजन्मा, निर्दोष और अकर्ता है। अविकारी आत्मा है। वह यह सब कुछ नहीं करता। लेकिन स्थूल में ऐसे दिखाया जाता है। और इन कथाओं के पीछे जो मतलब की बात है, साधक को हमेशा इन्हीं बातों को पकड़ना चाहिए।

वृन्दा है बुद्धि - जब तक इस जगत-जाल रूपी जलंधर में इसकी निष्ठा है, पूरी लगन से उधर लगी रहेगी तो सुर कारज अर्थात् ईश्वरीय साधना नहीं होगी। यह जगत जाल - यह संसार का फंसाव नहीं छूटेगा तो जलंधर नहीं मारा जा सकेगा - चाहे शंकर लगे चाहे ब्रह्मा। चाहे जितनी साधक मेहनत करे। तो जब विष्णु से सम्पर्क हो जायगा तो काम बन जाएगा। बुद्धि साधक की ईश्वर की ओर लगे और उधर संसार से उसका व्रत टूटे तब काम बनेगा। तो इस तरह से, छल करि टारेड तासु व्रत, प्रभु सुर कारज कीन्ह। देखो मानस में मन्दोदरी बुद्धि है जो अंत तक रावण को समझाती रही - उसे पकड़े रही, तब तक नहीं मरा रावण। जब हार थक कर कहने लगी कि “भयउ कंत पर विधि विपरीता।” अब समझाना व्यर्थ है और छोड़ दिया

उधर अपना प्रयास, तो मार दिया गया रावण। तो यह बुद्धि मनुष्य के पास एक बहुत बड़ी चीज है। यह जिधर लगेगी उधर का काम बनेगा। इस बुद्धि-वृंदा के पास बड़ी क्षमता है।

दो. - सुर नर मुनि कोउ नाहिं, जेहि न मोह माया प्रबल।

अस विचारि मन माहिं, भजिय महामाया पतिहिं॥

तो अब देखो कि नारद की लम्बी-चौड़ी कहानी बताया और अंत में निष्कर्ष वाली बात कह दी गई- कि ईश्वर को मन से पकड़ लो। उसी का भजन करो। तब उसकी इस विश्व मोहनी माया से बच सकते हो। ईश्वर को छोड़ कर माया को देखोगे, तो माया ही माया हो जाएगी - गो गोचर सब माया ही माया हो जाएगी। और अगर ईश्वर को देखने लगे, तो फिर सब सिया राम मय हो जाता है। इतना ही तो खेल है इसमें। वही नारद है, जब तक भगवान को पकड़े रहा, तो काम का वेग कुछ नहीं बिगाड़ पाया, क्रोध का शमन हो गया। सब मायादूर खड़ी रही। लेकिन भगवान की प्रकृति साधक की परीक्षा लेती है। अन्दर से बाहर से ठेंक-बजाकर पक्का कर लेती है, तब उसे भगवान के पास जाने देती है। तो जब जीत लिया काम देव को तो अहंकार आया। बस फिर आ गया माया की मुट्ठी में। जाकर नकली विश्व मोहनी का हाथ देखने लगा - फंस गया जाल में। तो यह माया बड़ी प्रबल है, किसी को छोड़ती नहीं है। बाहर से आ जाती है, भीतर से पैदा हो जाती है। कब कहां किस रूप में आकर खड़ी हो जाएगी - पता नहीं चलता। इससे तो बचने का एक ही उपाय है कि भगवान को देखता रहे बस। समर्पण भाव सहित पूरे मन से उसे जो पकड़ लेता है, उससे फिर यह माया नहीं बोलती। इसलिए इसमें अगर अपनी क्षमता, ज्ञान, ध्यान के भरोसे रहा जाएगा तो धोखा खाना पड़ेगा। इसमें तो समर्पण ही ठीक है। वह फिर बहुत आगे की बात है कि जब भगवान की तरफ से वीठो दे दिया जाता है - तब की बात दूसरी है। साधक को चाहिए कि कोई इच्छा न करे। शुरु में जब पार्वती ने पूछा शंकर जी से, कि नारद तो बड़े ज्ञानी रहे, भगवान को शाप क्यों दिया? तब क्या कहा शंकर जी ने -

‘बोले बिहांसि महेस तब, ज्ञानी मूढ़ न कोय।

जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहिछन होय।।’

इसलिए भगवान पर सब छोड़ दो, समर्पण इसे कहते हैं। समर्पण का मतलब है कि अपनी कोई कामना न रहे। भगवान की इच्छा ही सही है।

यह सब भगवान की मर्जी से होता है, साधक जो भजन करने वाला है, वह ऐसा मानता है। तो उसी से रोता है, उसी से हंसता है। उसी से झगड़ता है। उसे छोड़ नहीं सकता, कितनी भी ठोकर लगे, कितनी भी मार पड़े, कितनी जग-हंसाई हो। चाहे कुछ भी हो जाय। तो जब नहीं मानेगा, नहीं पीछा छोड़ेगा तो भगवान उसे अपना लेते हैं। उसे संभालते हैं। साधक गलती करता है, तो भी बचाते हैं।

“जो गह बच्छ अनल अहि धाई । तौ राखै जननी अरगाई॥”

इस तरह से इन कथा-प्रसंगों से अपने मतलब के सूत्र ले लेना चाहिए। और ऐसे नारद कोई आदमी नहीं है, कि वीणा लिए आकाश में उड़ता है। हर देश-काल में नारद पाया जाता है। नारद आकाश तत्व है। वह सदा से है, सब जगह है। शरीर के अन्दर भी है, नाभि में यह जो पोल है। तो यह सब प्रतीक खड़े किए गए हैं। अध्यात्म की सूक्ष्म बातों को समझाने के लिए इन सब सूक्ष्म तत्वों को स्थूल आकार दे दिया गया है। बताइए, नारद को हर युग में दिखा दिया जाता है – लेकिन देखने को मिला नहीं आज तक। क्या इंद्र मिला? क्या देवता मिले किसी को? क्यों नहीं मिले? जब अजर अमर हैं, तो मिलना चाहिए। लेकिन असल में ये सब सूक्ष्मतत्व हैं हमारे शरीर के अन्दर के। सब इन्द्रियों में एक-एक देवता बैठा है। इन इन्द्रियों में श्रेष्ठ जो मन है, वह इन्द्र है। स्थूल शरीर का अधिष्ठाता शंकर है, सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठाता ब्रह्मा है। कारण का विष्णु है – वह सबसे बारीक तत्व है। तो इस सबको समेट कर जब तक अपने अन्दर देखने की कला नहीं आती, तब तक आदमी बाहर भटकता रहता है, और यह कथा भागवत कुछ पल्ले नहीं पड़ती। इसका लाभ नहीं मिल पाता।

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहिचिंतहिं परमारथ वादी॥

नेति नेति जेहि वेद निरुपा। निजानन्द निरुपाधि अनूपा॥

संभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहर्ही। भगत हेतु लीला तनु गहर्ही॥

जौ यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

ऐसे अरूप-अलख, अगोचर, अखण्ड, अनन्त परमात्मा को प्रत्यक्ष करके देखना चाहते हैं – मनु सतरूपा। तो परमात्मा कोई पदार्थ तो है नहीं, जिसे देखा छुआ-पकड़ा जा सके। वह तो ज्ञान गिरा गोतीतं कहा जाता है, वह ऐसे कैसे मिल जाएगा? देखने में कैसे आएगा? वह तो अनुभव गम्य है – फीलिंग (अनुभूति) है। तो यह कोई बाहर की बात नहीं है। यह कहानी साधक के अन्दर की है। यह मन

ही मनु है। यही सृष्टि रच देता है अपनी क्षमता से। यही मन अगर सतरूपा अर्थात् श्रद्धा के साथ ईश्वर के लिए तत्पर हो जाय, तो भगवान को प्रत्यक्ष कर लेता है। इसी शरीर रूपी अवध में राम को पैदा कर लेगा। मन के अन्दर बड़ी क्षमता है। यह एक ऐसा उपकरण है आदमी के पास, कि इससे जो चाहो वह काम ले सकते हो। बस यह काबू में आ जाय। और अगर नियंत्रित न रहा, तो फिर नरक में ले जाए बगैर मान नहीं सकता। इसलिए शास्त्रों में मन को मनुष्य का सबसे बड़ा हितैषी मित्र भी कहा गया है, और सबसे बड़ा अपकारी शत्रु भी कहा गया है।

‘मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः।’

तो इस मन का ही सब खेल है। इसलिए बड़े-बड़े महात्माओं ने यहां तक कह दिया कि -

‘मनै ज्ञान मनै ध्यान है, मन है पारखबानी।

मनै लिए हम ज्ञान कुटत हैं, मनुवै अन्तरयामी।।’

जब साधक का मन ईश्वरोन्मुख हो जाता है श्रद्धायुक्त होकर भजन में लग जाता है तो यही है मनु का सतरूपा के साथ तपस्या करना। नैमिषारण्य में अर्थात् नियम से लगा, तो फिर उधर अन्दर ही अन्दर परमात्मा का आश्वासन मिल जाता है। दृढ़ता आ जाती है, तो दुनिया बदल जाती है। पूरी तरह से मन का रूपान्तरण हो जाता है। मनु फिर दशरथ बन जाता है। अब यह मन दसो इंद्रियों सहित ईश्वरीय अर्थ में लग जाता है। सतरूपा के रूप में जो प्रारम्भिक श्रद्धा-आस्था थी, अब प्रगाढ़ भक्ति के रूप में कौशल्या बनकर आ जाती है। और इसी शरीर रूपी अवध में भगवान का अवतार हो जाता है। परमात्मा को प्रत्यक्ष कर लिया जाता है।

मन रूपी मनु, जब श्रद्धा रूपी सतरूपा के सहित साधना में लगे, और नैमिषारण्य में अर्थात् नियमबद्ध होकर लगन से भजन करे, और धेनुमति तीरा अर्थात् विषमात्मक बुद्धि न रहे, बुद्धि का आश्रय लेकर चले, तब वहीं अन्तःकरण में भगवान प्रकट हो जाते हैं। ऐसा यह प्रसंग है। इस तरह से इसकी एडजेस्टिंग (समायोजन) करना चाहिए।

जब हम भगवान की ओर चलते हैं, तो पहले भगवान हमारी निष्ठा की परीक्षा लेते हैं। अगर हम सच्चे मन से भगवान में लगे हैं, तो हमें सब कुछ दे देंगे। और अगर इधर संसार की इच्छाओं में भी फँसे हैं, उधर भगवान को भी चाहते हैं, तो फिर ऐसे नहीं मिलता कुछ। भगवान के यहां दिखावा नहीं, सच्चाई चाहिए। निष्कपट,

‘निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।’

इस मन में भगवान के अलावा और कुछ रह न जाय, तब यह निर्मल कहा जाएगा।

‘विधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आए बहु बारा॥

मागहु वर बहु भांति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥’

ये प्रलोभन आते हैं। बार-बार आते हैं ब्रह्मा, विष्णु, शंकर। तो इसमें न उलझे मन – ये सब बीच की डिग्रियाँ हैं। परमात्मा जो लक्ष्य है हमारा वह सुप्रीम है। उसे पाना है, और कोई कामना न रहे।

इस तरह से मन जब समस्त कामनाओं को छोड़कर परमात्मा के लिए मचल जाता है, तो परमात्मा प्रकट हो जाता है। कैसा स्वरूप है उसका – नील सरोरुह नील मणि। नीला, आकाशवत्। अति सूक्ष्म और व्यापक। आकाश से भी अनन्त गुना बारीक और व्यापक तत्व है परमात्मा। वह मुकाम है अपना।

अब देखो, मनु और सतरूपा साथ-साथ तप करने गये थे॥ ‘बरबस राज सुतहिं नृप दीन्हा। नारि समेत गवन वन कीन्हा।’ तो दुनिया में तो स्त्री, पुत्र, घर सब छोड़कर तप करने निकलते हैं और ये पत्नी समेत गए। गोस्वामी जी यह भी लिखते हैं कि ‘जप तप नियम जलासय झारी। होइ ग्रीष्म सोषइ सब नारी॥’ तो स्त्री के साथ तपस्या कैसे होगी? क्या मतलब हुआ? इसलिए यह बाहरी दुनिया की बात नहीं है। साधक का मन ही मनु है, और मन में ईश्वर के लिए जो श्रद्धा भक्ति है, जो उसे भजन में लगाती है, वह सतरूपा है। दोनों के योग से ही भजन-साधन होता है। जब साधक के मन में भजन की प्रशक्ति आई और नैमिषारण्य में अर्थात् नियम में आरुढ़ होकर, साधना करके भगवान को प्रत्यक्ष कर लिया, तो उनसे वरदान में उन्हीं जैसा पुत्र मांगा। तो अब यह विचार करो, कि जो मनु बड़े समझदार थे, विरक्त होकर कठोर तप करके भगवान को प्रत्यक्ष कर लिया, तो फिर उसे पुत्र की लालसा क्यों होना चाहिए? वास्तव में ऐसा है नहीं। यह तो लोकरीति की बात लिखदी है गोस्वामी जी ने, कि भगवान को प्रसन्न करके उनसे धन, सम्पत्ति, पुत्र आदि मांगते हैं लोग। लेकिन यह सब अन्तर्जगत की बातें हैं। पुत्र कहते हैं, आत्मज को। तो भगवान तीन स्तर से हमारे अन्दर प्रकट होते हैं – जीवात्मा, ईश्वर आत्मा और परमात्मा। इस तरह, जो जीवात्मा के स्तर से चलकर परमात्मा में स्थित होने की बात है, उसी को आत्मज या पुत्र कहा गया है। एक स्थिति से आगे की स्थिति, अपने में ही पैदा होती जाती है, भजन के प्रभाव से। इस प्रकार जीवत्व से ईश्वरत्व की, और ईश्वरत्व के भी आगे सुप्रीम अवस्था को पाने की बात यहां कही गयी है।

ईश्वरकोटि की अवस्था जब प्राप्त हो गयी - जब पूरी तरह से सत्य पर आरुढ़ हो गये, और परीक्षा से प्रमाणित हो चुके, तब परमेश्वर जो सुप्रीम है, उसमें स्थिति के लिए यह वरदान है। तो अभी उसमें कुछ समय लगेगा।

सो.- तहंकरि भोग विसाल, तात गए कुछ काल पुनि।

होइहु अवध भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत।

स्वर्ग में कुछ समय तक रहेंगे, तब फिर मनु दशरथ बनकर आ जाएंगे, तब भगवान मिल जाएंगे। तो स्वर जहां गमन करता है वह स्वर्ग है- शरीर के अन्दर श्वांस चलती है। स्वर्ग में मनु के रहने का अर्थ यह हुआ कि साधक का मन अपने अन्दर श्वास के जप में लगा रहे। कुछ दिनों में मन पूरी तरह से रूपांतरित हो जायगा। अब दसो इन्द्रियों सहित ईश्वर के अर्थ में लग जाएगा। दशरथ बन जायगा तो जब एक स्तर साधना का पूरा हो गया, अब साधक के मन का रूपांतरण हो गया। मनु अब दशरथ के रूप में आ गए। भजन की प्रशक्ति सतरूपा, अब कौशल्या अर्थात् प्रगाढ़ भक्ति के रूप में आ गई। दसों इन्द्रियों सहित मन जब परमात्मा के अर्थ में लग जाता है, तो यह मन दशरथ कहलाता है। ईश्वर में प्रगाढ़ भक्ति होने पर, साधन भजन में कुशलता आ जाती है, यह कौशल्या है। ईश्वरीय कर्तव्य कैकयी है। सुमति सुमित्रा है। यह शरीर - यह मानव तन ही अवध है। अवधि कहते हैं समय को - जब साधना करने का समय आया, तब यह शरीर, अवध कहा जाता है। सुरतिरूपी श्रृंगी ऋषि को, जब ईश्वर की जानकारी रूपी यज्ञ में लगाया, तो परिणाम आने लगा। ज्ञान राम, विवेक रूप लक्ष्मण, भावरूपी भरत और सत्संगरूपी शत्रुघ्न साधक के अन्दर आ गए। इस तरह यह सब मानस की बातें हैं। अपने भीतर झांकना शुरू कर देंगे तो सारे अर्थ खुलते चले जाएंगे।

इच्छा भय नरवेष संवारे। होइहुउं प्रकट निकेत तुम्हारे॥

अंसन सहित देह धरि ताता। करिहुउं चरित भगत, सुख दाता॥

जे सुनि सादर नर बड़ भागी। भव तरिहिहिं ममता मद त्यागी॥

अदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

भगवान को जानने की इच्छा से युक्त जो भी मानव शरीर हो उसके हृदय - निकेत में अपने अंश रूप ज्ञान, विवेक आदि के सहित आते हैं, और उस भाग्यशाली साधक के अन्दर सुख देने वाले चरित्र करते हैं। ऐसे ही साधक अपने अन्दर से मद-मोहादि विकारों को हटाकर संसार से विरत हो जाते हैं और हमेशा हमेशा के लिए ईश्वर में लीन हो जाते हैं। उसमें भगवान अपनी दिव्य विभूतियों का संचार कर

देते हैं - इनर्जी आ जाती है। क्षमता आ जाती है। अनेक कलाएं आ जाती हैं। यह योगमाया भी भगवान के साथ अवतरित हो जाती है उसमें। तो ये जो भगवान के अंश रूप दिव्य गुण हैं, और जो योग-साधना से प्राप्त की गई क्षमता - यह योग माया है, यही पहिचान है भगवान की।

यह मनुष्य ही अपने अन्दर सद्गुणों का और कलाओं का विस्तार करते-करते भगवान बनता है। जीवत्व से ईश्वर कोटि प्राप्त कर लेता है। ऐसा नहीं है कि भगवान कोई ऐसी चीज है जो कहीं है और फिर यहाँ आ गई वहाँ आ गई। वह तो सर्वत्र परिपूर्ण है। वह अपने अन्दर जाग्रत की जाने वाली चीज है। जीवात्मा ही अपने स्वरूप को पहचान कर परमात्मा बनता है। भगवान हमेशा अपनी माया के साथ अवतार लेते हैं। तो यह माया और कुछ नहीं - बस कला है, इसे बढ़ाना पड़ता है। जिसमें कला बढ़ती गई। 12, 15, 16 तक बढ़ गई है। तो उसे भगवान कहा जाता है। सामान्य आदमी में दो चार कलाएँ होती हैं। जो मेहनत करे, साधना करे, योग करे तो विकसित होती जाएंगी कलाएँ। यह योग माया साथ में हो जाय तो भगवान मान लिया जायगा। योग साधना से प्राप्त कलाएँ या क्षमताएँ ही योग माया है। इस मायाशक्ति के बिना भगवान का अवतार नहीं हुआ करता। इसके बिना भगवान कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो अविकारी है। मन रूपी मनु को यह वरदान है। तो इन कलाओं को प्राप्त करने के लिए संतों ने मन को ही साधन बनाया और इसके जरिए सब कुछ पाया - इसी मन की साधना से वह पूरा कोर्स करके वह क्षमता, वह स्थित प्राप्त कर सकते हैं। तो मूल चीज है ईश्वर का ईश्वरत्व। उसी परमशक्ति के बिना उसका रूप खड़ा नहीं हो सकता। नियम है यह, कि 'परमशक्ति समेत अवतरिहउं।'

गिरि त्रिकूट एक सिंधु मंझारी। विधि निर्मित दुर्गमअति भारी॥

सोइ मय दानव बहुरि संवारा। कनक रचित मनि भवन अपारा॥

भोगावति जसि अहि कुल वासा। अमरावति जस सक्र निवासा।

तिन्ह ते अधिक रम्य अति बंका। जग बिख्यात नाम तेहि लंका।

दो. - खाई सिंधु गंभीर अति, चारिहुं दिसि फिरि आव।

कनक कोट मनि अचित दृढ़, बरनि न जाइ बनाव॥

हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ, जातु धान पति होइ।

सूर प्रतापी अतुल बल, दल समेत बस सोइ॥

लंका का वर्णन पढ़ते ही आ गया होगा दिमाग में लंका का चित्र। तो लोगों को पहले से सुनते-सुनते अभ्यास बन गया है। हैविट (आदत) बन गई है। एक अयोध्या नगर है, वहां कभी दशरथ राजा रहे होंगे – ये सब चित्र दिल दिमाग में बैठ गये हैं। अब जब भी वह बात सुनें, तो वही चित्र उभर कर सामने खड़े हो जाते हैं। उन्हें हटा नहीं पाते दिमाग से। लंका समुद्र के बीच में पहाड़ के ऊपर सोने का किला है। उसमें चार दरवाजे हैं – तो झट एक चित्र खड़ा हो गया कल्पना में। मेमोरी (स्मृति या सुरति) में आ गया, तो फिर जल्दी हट नहीं सकता। आदमी को सोचना चाहिए कि सोने का किला तो बनता नहीं। सोने के और मणियों के घर-मकान दुनिया में कहीं देखे नहीं गए कभी। यह मय दानव क्या है जो हर कथा-कहानी में सतयुग-त्रेता-द्वापर सबमें पाया जाता है। तो अगर विचार किया जाय, और इन सब बातों की खोजबीन की जाए, तो हल निकल आता है। गोस्वामी जी ने लिखा है विनय पत्रिका में –

‘बपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका, रचित मन मय मनुज रूप धारी।’

इस तरह से यह मानवतन ही सोने का किला है। यह बहुत दुर्लभ और बड़ी कीमती – बड़े काम की काया है। इसलिए इसे सोने का किला कहा गया है। जब जीव की इसमें आसक्ति हो जाती है तो यह लंका बन जाती है। मोह रूप रावण इसमें राजा बनकर बैठ जाता है। तमाम दुर्गुण – ये काम क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मत्सर ये राक्षस इसमें डेरा जमा लेते हैं। इनके बीच में जीव रूप में विभीषण दबाहुआ पड़ा रहता है। तो ऐसी यह लंका मन रूपी मय दानव रच देता है। आदमी के मन में, मैं मेरा का भाव आ जाता है। आसक्ति हो गई। मोह तैयार हो गया। फिर इस मोह से तमाम खराबियां पैदा हो जाती हैं – ऐसे यह राक्षसों का परिवार बढ़ता चला जाता है। फिर ये सब आतंक मचा देते हैं। तो यह हाल हर काया के अन्दर हो रहा है। हर काया रूप कल्प में यही होता आ रहा है। तो – ‘मोह, सकल व्याधिन कर मूला। पुनितेहि ते उपजहि बहु सूला।।’ और कहते हैं कि –

“एक व्याधिबस नर मरइ, ये असाधिबहु व्याधि।

‘संतत पीड़हिं जीव कहुं, सो किमि लहै समाधि।।’

जीवात्मा अशांत होकर त्राहि-त्राहि करने लगता है। तो यह कहानी हर एक आदमी के अन्दर हो रही है, कि वहाँ त्रेता की लंका से कुछ मतलब है? वही हाल है कि कौआ कान ले गया, कान ले गया – और कान की खबर कोई लेता नहीं। अरे भाई, इस शरीर में ही सब है। यही साधना का केन्द्र है, यही साधन का धाम

है, यही मोक्ष का द्वार है। यही लंका बन जाता है, यही अवध बनता है। इसी को भोगावती बना लो, और चाहो तो अमरावती बना लो। अभी तो यह काया लंका बनी हुई है। आसक्ति हो गई है मन में। मोह के कारण दसो इंद्रियां विषयोन्मुख हैं। रावण के यही दस मुख हैं, और कहीं किसी के दस सिर नहीं हुआ करते। यह लंका त्रिगुण रूपी त्रिकूट पर बसी है। संसार रूपी सागर इसे घेरे हुए है, चारों ओर जिसमें विषय रूपी अथाह जल भरा हुआ है। और इसी में आदमी जीवात्मा के रूप में विभीषण की तरह दुर्दशा भोग रहा है।

‘जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषण विकल

मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता।।’

तो अपनी इस दुर्दशा की तरफ कोई देखता नहीं, और न इस हालत से छूटने का कुछ उपाय करता है - बस कथा सुन रहे हैं, और त्रेता की बातें कर रहे हैं। कितनी बड़ी ना समझी है? वर्तमान की खबर नहीं लेते, भूत के भविष्य के सपने देखने में जीवन जा रहा है। फिर भी अपने को बुद्धिमान मानते हैं। गोस्वामी जी तो ऐसे लोगों को मंदमति कहते हैं। आत्महंता तक कहते हैं -

‘जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।

सोकृत निन्दक मंद मति आत्माहन गति जाइ।।’

इसलिए मनुष्य का पहला धर्म है कि आत्म कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी में बुद्धिमानी है।

ब्रह्म सृष्टि जहं लागि तनु धारी। दसमुख वसवर्ती नरनारी।।

**आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन
बिनीता।।**

दो.- भुजबल विस्व वस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र।

मंडलीक मनि रावन, राज करइ निज मंत्र।।

देव दनुज गंधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि।

जीति बरी निज बाहुबल, बहु सुन्दर वर नारि।।

इंद्रजीत सन जो कछु कहेऊ। सो सब जनु पहिलेहिं करि रहेऊ।।

इस तरह से जब इस वपुष - ब्रह्माण्ड में, इस शरीर के अन्दर, मोह रूपी रावण का बोलबाला हो जाता है, तो जितने शरीर के अन्दर ये इंद्रियों के रूप में देवता हैं, इनका अधिपति मन रूपी इंद्र है, और भी जितने कोश - भाग हैं, हार्मोन्स -

नाड़ियां, सबमें उसी मोह रूपी रावण का आधिपत्य हो जाता है। अन्तर्जगत मोह से आच्छादित हो गया। तो जितने अच्छे भाव, वृत्तियां, विचार-आचार हैं, वे रह नहीं जाते। मैं - मेरा मैं रात दिन आदमी पागल की तरह घूमता रहता है। अशांति छा जाती है चित्त में। अब इसमें मोह के साथ-साथ क्रोध रूपी कुंभकर्ण खाए जा रहा है, लोभनारातक आतंक मचाए है। ये ईर्ष्या-द्वेष रूपी खर-दूषण शुभ आचरण होने नहीं देते। उधर काम रूपी मेघनाद तो सबसे ज्यादा प्रबल है। यह काम तो अपने बाप से और पीती (चाचा) से भी बड़ा बलवान है। हे भगवान! रावण जो बाप था, कुंभकर्ण चाचा, ये पीछे रह गए और जो मेघनाद था इनसे आगे निकल गया। एक कथा ऐसी आती है कि रावण और कुंभकर्ण दोनों को इन्द्र ने कैद कर लिया था। तो यह लड़ाई तो सनातन है। हर एक के हृदय में चल रही है। इस लड़ाई में कभी इन्द्र जीता, कहीं इन्द्रजीत। साधकों में सबके अन्दर यह लड़ाई चलती रहती है। किसी साधक ने मोह रावण और क्रोध-कुंभकर्ण को अपने अन्तःकरण में जीत लिया। कुछ काल तक यह स्थिति रही। फिर काम रूपी मेघनाद का आक्रमण हुआ, तो उसने साधक के मन को विचलित कर दिया - इन्द्र को जीत लिया। जब साधक काम के वशीभूत हो गया, तो उसके अन्दर क्रोध और मोह भी जाग जाते हैं। रावण और कुंभकर्ण कैद से छूट गए। तो यह कामदेव ऐसा प्रबल है कि अनेक कलाएं हैं इसके पास। अदृश्य होकर प्रहार कर सकता है। कभी विकराल रूप धारण कर सकता है - अनेक तरह से हावी हो सकता है। यह काम ही मेघनाद है। इसलिए इससे जीत पाना कठिन है। इसका जब आक्रमण होता है, तो यह ज्ञान और विवेक रूपी राम-लक्ष्मण को भी नागपाश में बांध देता है। इस प्रकार काम का वेग ऐसा प्रबल होता है कि ज्ञान और विवेक भी काम नहीं करते। इसीलिए कहते हैं -

‘को अस काम नचाव न जेही।’

इस पर एक कथा हम सुनाते हैं ध्यान से सुनो। व्यास जी अपने आश्रम में श्रीमद्भागवत की कथा कह रहे थे। कोई सुनने वाला न था। उनके शिष्य सूत जी सुना करते थे। एक दिन ऐसा प्रसंग आया कुछ, तो सूत जी बोले, ‘भगवन! अगर शिष्य पर गुरुकृपा हो जाती है, तब फिर माया तो उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। व्यास जी बोले हाँ, हो सकता है, गुरु महाराज की कृपा से सब कुछ हो सकता है। लेकिन कुछ कहा नहीं जा सकता, भगवान की माया बड़ी प्रबल होती है। सूत जी ने कहा, ‘भगवन! मुझे तो यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि आपके संरक्षण में माया मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।’ व्यास जी धीरे से मुस्कुराए और फिर बोले, ‘देखो, मैं बाहर जाऊंगा। तुम आश्रम में ठीक से रहना। अपने नियम, आचार-विचार से रहना

और अगर कोई स्त्री आए, तो विशेष सावधान रहना - मैं तुम्हें सब सीख देकर जा रहा हूँ। कोई गड़बड़ी नहीं होना चाहिए।' सूत जी बोले, 'महाराज! आप निश्चिंत होकर जायं, मैं हर तरह से सावधान रहूंगा। आपकी कृपा से कोई गड़बड़ी नहीं आने पाएगी। 'हाँ मुझे तुमसे यही उम्मीद है' - इतना कहकर चले गए व्यास जी। उधर थोड़ी देर बाद जोर का आंधी पानी आया - और सोलह अठारह साल की लड़की आकर खड़ी हो गई। पानी में भीग गई थी। झीनी साड़ी पहने थी। भीग जाने से उसके शरीर के सब अंग दिखाई पड़ रहे थे। सूत जी से गुहार लगाने लगी बचाओ, बचाओ महाराज! मुझे शरण दे दो। जाड़े से कांप रही थी। सूत जी अकेले थे। बोले, "बाप रे बाप! यह बला कहां से कौन आ गई।" उसे कपड़ा दिया अंग ढकने के लिए। फिर बताया कि लो, उस कमरे की चाबी, और अन्दर से बन्द कर लेना। कोई आवे तो खोलना नहीं। उसने कहा, ठीक है ऐसा ही करूंगी।' रात हो गई थी। घंटे दो घंटे बीत गए। सूत जी के मन पर काम का असर हो चुका था। घंटे दो घंटे किसी तरह मन को दबाते रहे। आवेग जब काम का तीव्र हुआ, तो आसन से उठकर युवती का दरवाजा खटखटाया। बोले - 'खोलो भाई, तुम्हारा क्या हाल चाल है, देखें, जरा खोलो तो।' उसने कहा - 'नहीं महाराज, मैं न खोलूंगी। आपने ही कहा है।' सूत जी बोले अरे! खोलो तो, देखो, मैं तुम्हें प्यार करना चाहता हूँ।' उसने कहा, 'नहीं महाराज! मैं आपकी बेटी की तरह हूँ। ऐसा न कहिए।' जब नहीं खोला उसने, तो सूत जी काम के आवेग में उस कमरे की छत तोड़ने में जुटे। छत में छेद करके कूद पड़े कमरे में। देखा तो वहाँ दाढ़ी वाले गुरुबाबा (व्यास जी) आसन लगाए बैठे हैं। लड़की का पता नहीं। तो जब होश आया, तो सूत जी गुरु महाराज के चरणों पर गिरे।

तो यह कामदेव सबसे ज्यादा प्रबल विकार है। बड़े-बड़ों की बुद्धि बिगाड़ देता है। बुराई में इसे सबसे बड़ी डिग्री मिली है। इसलिए साधक को हमेशा इन विकारों से बचकर रहना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ ये तीन महान खतरनाक राक्षस हैं -

‘तात तीन अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।

मुनि विज्ञान धाम मन, करहिं निमिष महुं छेभ।।’

गीता में भी आया है - त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतन्नयं त्यजेत्॥

अतिसय देखि धर्म कैलानी। परम सभित धरा अकुलानी॥

गिरि सरि सिंधु भार नहीं मोही। जस मोहिं गरुअ एक
पर द्रोही॥

इस तरह से जब ये विजातीय तत्व बढ़ जाते हैं, और इस शरीर के अन्दर अशान्ति छा जाती है। सजातीय भावनाओं का हास होने लगता है। सत्कर्म हो नहीं पाते हैं, तो अन्दर से ग्लानि आती है, छटपटाहट और अकुलाहट आती है। तो फिर उपाय होने लगता है। तो यह धड़-धरती कब अकुलाती है? जब इसके अन्दर पर-द्रोही तत्व आ जाते हैं। परदार रत तत्व आ जाते हैं। पर कहते हैं आत्मा को। परमात्मा को पर कहते हैं। तो ये जो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण हैं, ये सब संसार की ओर ले जाने वाले हैं, विषयों में फंसाते हैं, ईश्वर की तरफ जाने नहीं देते, इसलिए यही पर द्रोही हैं। इनका प्रभाव - दबाव जब बढ़ता है, तो स्वाभाविक है कि आदमी चैन नहीं पा सकता। कभी काम के मारे बेचैन रहता है, कभी लोभ के कारण मारा-मारा फिरता है, कभी क्रोध अथवा ईर्ष्या-द्वेष की आग में जलता रहता है। तो फिर एक समय ऐसा आता है कि ऊब जाता है और छटपटा उठता है। फिर शान्ति पाने के लिए व्यग्र हो जाता है। जैसे जेठ की तपन से जलने वाला छाया ढूँढ़ता है। इस तरह से - गई तहां जहं सुर मुनि झारी। फिर सजातीय भावनाओं की तरफ मुंह करता है। तो अन्तःकरण में इन सजातीय गुण धर्मों का इन देव, मुनि, गंधर्व, विद्याधर, शंकर, ब्रह्मा इन सबका-समूह बन जाता है। और जब आर्त होकर भगवान को पुकारा और भगवान की वाणी जहाँ मिली अन्दर, तो आश्वस्त हो जाता है। तो शुरू में भगवान की सांकेतिक झलक भी साधक अपने हृदय में ही पाता है। और फिर वहीं उसमें लगन करे, तो वह स्पष्ट हो जाता है। शंकर जी कहते हैं-

‘जाके हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहं प्रगट सदा तेहि रीती।’

नियम तो यही चला आ रहा है भगवान को प्रत्यक्ष करने का। यही सही तरीका है, कि हृदय में प्रकट होता है भगवान - सदा की रीति है यह। लेकिन लोग मानें तब तो, यहां तो - ‘पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई।’ पता नहीं कहां-कहां ढूँढ़ते हैं लोग भगवान को। पता भी नहीं लगाते कि बैकुंठ कहाँ है, किसे छीर सागर कहते हैं साकेत किसे कहते हैं? बैकुंठ नाम का क्या कहीं बाहर आकाश में कोई मकान बना है? होता तो पता लग जाता। समुद्र का तो कोना-कोना छान लिया आदमी ने। छीर सागर आज तक किसी को मिला नहीं। और न कभी मिलेगा बाहर। ये सब अध्यात्म से जड़ी हुई बातें हैं। इसलिए केवल धर्मग्रंथों में इन्हें प्रतीक रूप में लिया गया है। अन्तर्जगत की चीजें हैं, बाहर की नहीं है। बाहर की होती, तो इतिहास, भूगोल, खगोल कहीं न कहीं इनको लिया जाता। बाहर

इनके रंग, रूप, आकार सब कल्पना से बना लिए गए हैं। जब साधक का मन निर्विषय होकर शुद्ध और शान्त हो जाता है तब उसे बैकुण्ठ कहते हैं। मन की उस शान्त दशा को विष्णु पद कहा गया है। वह धाम है भगवान का। वही परम पद है। उसमें स्थित हो जाए तब आवागमन से मुक्त हो जाता है यह जो नाभि कमल है - इसका प्रतीक छीर-सागर है। मूल प्रकृति को शेष शय्या बनाकर भगवान इसमें शयन करते हैं। यही कुंडलिनी मूल जगह है। तो अगर भगवान का पता लगाना चाहते हो, तो अपने अन्दर देखना पड़ेगा। अन्तर्मुखी साधना में तत्पर होना पड़ेगा। और सही तरीके से, जो रास्ता बताया जाता है भजन का, उस पर चलना पड़ेगा।

दो. - निज लोकहिं विरंचि गे, देवन्ह इहइ सिखाइ।

बानर तन धरि धरि महि, हरि पद सेवहु जाइ॥

सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठाता ब्रह्मा है। तो जब अन्तर्जगतीय साधना में साधक का प्रवेश हो चुका है, तो वहाँ ब्रह्मा का आदेश-निर्देश चलेगा। अहंकार शिव बुद्धि अज। ब्रह्मात्मक बुद्धि जब हो जाती है, तो सब इंद्रियां और मन आदि जितने कोष हैं अन्दर के, सब में ईश्वरीय भावना का समावेश हो जाता है। ब्रह्मज्ञान मयी प्रवृत्ति इन सबमें साकार हो जाय, तब फिर सब सजातीय समूह ईश्वरीय कार्य में सहयोगी होते हैं। बानर ब्रह्मज्ञान का रूप है। तो सब देवताओं को ब्रह्मा, ने कहा - ‘बानर तन धरि-धरि महि, हरि पद सेवहु जाय।’ इस तरह से साधक के अन्दर जब ब्रह्मज्ञान मयी प्रवृत्तियों का अंग-प्रत्यंग में प्रादुर्भाव हो जाता है, तो फिर उसके हृदय में भजन का सही रूप साकार होता है।

दसो इंद्रियों के सहित यह मन जब ईश्वर के अर्थ में लग गया तो यही दशरथ है। ईश्वर में प्रगाढ़भक्ति हो गई तो यह कैशल्या मिल गई। सुमति रूपी सुमित्रा और ईश्वरीय कर्तव्य रूपी कैकयी - ये सब इस शरीर रूपी अवध में जब आ गए और गुरु ज्ञान रूपी वशिष्ठ के निर्देशन में, सुरति रूपी श्रृंगी ऋषि को, जब नाम के यजन रूपी यज्ञ में लगाया, तो परिणाम आने लगा। वह जो आश्वासन भगवान की ओर से हुआ था। साधक की अन्तरात्मा में जो प्लानिंग हुई थी और आकाशवाणी हुई थी कि -

‘अंसन सहित मनुज अवतारा। लैहऊं दिनकर बंस उदारा॥’

वह सब क्रिया में परिणत होने लगा। तो परमात्मा अपने अंश भूत भाइयों के सहित प्रकट हो गए। राजा के घर में अर्थात् साधक के हृदय में भगवान आते हैं। साधक ही राजा हैं। सूर्यकुल का मतलब है निवृत्ति मार्ग वाले साधकों की परंपरा।

जो श्वास में यजन के द्वारा मन को एकाग्र करके परमात्मा को प्रत्यक्ष करते आए हैं, ऐसे विरक्त संतों की परंपरा को सूर्यकुल कहा गया है। ऐसे सूर्य कुल में मनुज अवतार होता है भगवान का। मनुष्य के अन्दर उसके मनु रूप मन से, ज अर्थात् जन्मते है। मन की साधना से ईश्वर की पैदाइस होती है। और यह जो बाहरी संसार के तौर तरीके से लेते हैं स्थूल ढंग से, यह गलत है। स्त्री-पुरुष के संयोग से तो शरीर पैदा होते हैं। भगवान अति सूक्ष्म, व्यापक और अजन्मा आत्मा है। उस आत्म तत्व को प्रत्यक्ष करना है। तो जब अनुराग रूपी अग्नि देव का प्रसाद मिला, तो भगवान अन्दर आकर बैठ गया। बस फिर आनन्द आ गया।

‘जा दिन ते हरि गर्महिं आए। सकल लोक सुख संपति छए॥’

उदर में उसे ले लिया गया भक्ति के द्वारा तो फिर पैदा होने में देर नहीं लगेगी। लेकिन यह क्रियावान अधिकारी साधक में होता है – जिसे सद्गुरुओं से तत्व ज्ञान मिला है, सबकी समझ में ये बातें आती नहीं हैं। अध्यात्म विद्या का पात्र होना चाहिए।

दो. – जोग, लगन, ग्रह वार तिथि, सकल भए अनुकूल।

चर अरु अचर हर्ष जुत, राम जनम सुख मूल॥

नौमीतिथि मधुमास पुनीता। चैत्र शुक्ल अभिजित हरि प्रीता॥

मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक विश्रामा॥

यह सब प्रैक्टिकल करने से समझ में आने वाली बातें हैं। अपनी इच्छाओं को जो खत्म कर देता है, और ईश्वर के लिए अपने आपको होम देता है, ऐसे साधक के लिए ये सब बातें हैं। वही अधिकारी है। वही निकल पाता है इस रास्ते में। अगर अधिकारी होगा – साधना में लगा हुआ होगा – तो झट पकड़ लेगा हर बात को। और जिसमें योग्यता है नहीं, वह सुनेगा, तो मामला बिगड़ जाएगा। चाहे लिख लो, चाहे याद कर लो – जब तक तुम्हारा अन्तःकरण वैसा बनता नहीं है, तब तक इसका कोई मतलब नहीं है। इसलिए खूब मन लगाकर भजन करना चाहिए। यह दुनिया अच्छाई-बुराई से बनी है, ऐसे ही चलती रहेगी। इन्हें दाएं-बाएं करके निकल जाना चाहिए। हमारे ऋषियों-मुनियों ने बड़ा भारी त्याग करके हमें अध्यात्म का जो विज्ञान दिया है, उसे समझो और ग्रहण करो। उससे सारी क्षमताएं मिल जाती हैं। इसलिए कहा गया है –

‘पहिले दही जमाइए, पीछे दुहिए गाय।

बछड़ा वाके पेट में, माखन हाट बिकाय॥’

ध्यान सही लगने लगा यह है दही जमाना। तो इंद्रियों के सहित मन को विषयों से रोककर भगवान में लगा दिया जाय तो ये सब गो नाम इंद्रियों से जो चाहो दे देंगी अभी तो यह विषय रस रूप जहर ही दे रही हैं। इसलिए कबीर दास जी कहते हैं कि पहिले भगवान को ध्यान के द्वारा पकड़ लो हृदय में, तब फिर वह क्षमता रूपी कामधेनु तुम्हें मिल जाएगी, जो सब कुछ दे देगी। और ब्रह्म रूप बछड़ा आकर अन्दर बैठ जाएगा - आत्मा में स्थिति मिल जाएगी। तो फिर माखन हाट विकाय - महिमा रूपी माखन बिकने लगेगा - संसार में ख्याति फैल जाएगी। मान-सम्मान मिलने लगेगा। सब कुछ मिल जाएगा। ऐसे इच्छा करते रहने से कुछ नहीं मिलता। इसलिए तरीका सही पकड़ा जाए, तो परेशानी हल हो सकती है। आदमी सुख-समृद्धि के लिए दौड़ रहा है इधर-उधर। और जो सुख का खजाना है, वह अपने अन्दर है। - जो आनन्द सिंधु सुखरासी है, वह परमात्मा अपने अन्दर है - फिर भी सब दुख भोग रहे हैं - 'अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जगदीन दुखारी'। क्यों दुखी हैं, क्योंकि उस सुख के खजाने को - उस सुखराशि राम को बाहर-बाहर ढूँढ़ रहे हैं। जहाँ वह मिलने वाला है, उधर देखते ही नहीं।

‘कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़ै बन माहिं।

ऐसे घट-घट राम है, दुनिया देखै नाहिं।।’

कब देखेगा, जब जोग, लगन ग्रह वार तिथि सब सही हो जायं। मतलब यह है कि भगवान का प्रादुर्भाव साधक के अन्दर तब होता है, जब ज्ञान और भक्ति का योग बनता है। सही जानकारी हो जाय और उसे क्रिया में ले लिया जाय - यह संयोग बने। और वह योग हो जाय कि ध्याता का ध्यान में ध्येय से योग हो जाय। ध्याता जो मन है यह अपने ध्येय में - अपने इष्ट में तन्मय हो जाय।

इसका मतलब प्रैक्टिकल में यह होता है कि जब हमें ज्ञान हो गया कि आत्मा ही परमात्मा है वह अपने अंदर है तो फिर हम उसमें अपने मन को जोड़ दें - यह योग हो जाय, ध्याता का ध्येय से योग हो जाय। और लगन भी अच्छी हो। तीव्र लगन लग जाय भगवान में। तब सब परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाती हैं। नौमी का मतलब है कि सभी इंद्रियों में ईश्वरीय कर्तव्य की लव लग जाय। चित्त हमारा चेत जाय, यह चैत का महीना है। मन को ईश्वर के भजन में रस मिलने लगे - यह मधुमास आ जाय। मन में बस जाय भगवान, यह बसंत ऋतु आ जाय - बुद्धि में प्रकाश आ जाय सत्य पक्ष की धारणा बन जाय, - यह शुक्ल पक्ष आ जाय तब फिर

वह मंगल का दिन हो जाएगा। कल्याण करने वाला समय आ जायगा। मध्य दिवस अर्थात् श्वासा की सम स्थिति और सुख-दुखादि द्वन्द्वों में समत्व की स्थिति वाली शुभ घड़ी। वह पावन मुहूर्त आ जाएगा। और उस नर श्रेष्ठ साधक के हृदय-निकेत में राम आ जाएगा। फिर उसके इस शरीर रूपी अवध में सब तरफ उल्लास छा जाएगा। ऐसा यह मानस में अर्थात् अन्तःकरण में भगवान के जन्म का प्रसंग है। साधक के अन्तर्जगत का चार्ट है, जिसका बाहरी रूप से चित्रण किया गया है। इसे ठीक से समझा जाय, और समझ कर अपने अन्दर क्रिया में लिया जाय और लगन के साथ साधना में जुटा जाय, तो जीवन में वह मांगलिक दिन आ सकता है।

कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेहि जात न जाना।।

दो. - मास दिवस कर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।

रथ समेत रवि थाकेउ, निसा कवन विधि होइ।।

गोस्वामी जी कहते हैं कि राम-जन्म के समय उत्सव देखने के लिए सूर्य एक महीने तक खड़ा रह गया। और इस रहस्य को कोई समझ नहीं पाया। अब यही कुछ ऐसी बातें हैं जो स्पष्ट कर देती हैं कि यह सब चरित बाहर का नहीं है - मानस का राम रचित है। अंतर्जगत की बातें हैं सब। बाहर तो ऐसा अगर हो जाय, कि एक महीने तक रात आए ही नहीं, तो सारी दुनिया में उथल-पुथल मच-जायगी। आजकल के पढ़े लिखे समाज में इन सब प्राकृतिक गतिविधियों की पूरी जानकारी है लोगों को। छोटे-छोटे बच्चे भी जानते हैं कि पृथ्वी अपनी अक्ष पर घूमती हुई सूर्य का चक्कर लगाती है। इसी से रात-दिन होते हैं। ऋतुएं बदलती हैं। अब आज इन बातों को कोई नहीं मानेगा कि सूर्य सात घोड़ों के रथ पर बैठकर चलता है, और अरुण नाम का उसका कोई सारथी है, जो रथ हांकता है। अथवा उषानाम की सूर्य की स्त्री है। उषा तो सूर्य निकलने के पहले जो आभा आती है उसे उषा कहते हैं। सबेरे जो लाल गोले के रूप में सूर्य दिखाई पड़ता है - वह अरुण कहलाता है। यह सब समय के अनुसार नाम दिए गए हैं। प्रकृति के काम सदैव नियम से चलते हैं। नियम के विपरीत नहीं होता वहां कुछ भी। इसलिए यह नहीं माना जाएगा कि कभी ऐसी भी कोई घटना हुई थी जिसमें एक महीने का दिन हुआ था।

वास्तव में राम का प्रादुर्भाव साधक के अन्दर होता है। शरीर में यह जो श्वासा चलती है उसका प्रतीक सूर्य है। जब साधक श्वास-जप के द्वारा, ध्यान के द्वारा, मन को एकाग्र करता है। ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों में एकतानता आती है, और वह शून्य अवस्था में लीन हो जाता है - सुषुप्ति में चला जाता है - तो एक-दो मिनट

के लिए यह श्वासा खड़ी हो जाती है। यही सूर्य का रुकना कहा जाता है। भजन-ध्यान की परिपक्व अवस्था में ऐसा होता है। योग साधना में ऐसी अवस्था आती है। तो इस रहस्य को कोई दूसरा नहीं जान पाता।

‘यह रहस्य काहू नहीं जाना। दिन मनि चले करत गुन माना।’

यह मन की शान्त, शुद्ध निर्विषय या शून्य अवस्था है। इसी स्थिति को योगी महात्मा भगवान की झलक मानते हैं। ऐसे राम की पैदाइश होती है। उसकी यह पहिचान है। साधक के अन्दर का रहस्य है। बाहर की बात होती तो सब जान जाते।

दो चार मिनट के लिए हमारी श्वांसा खड़ी हो जाती है। श्वांसा ही सूर्य है। खड़ी हो गयी तो भजन की क्रिया पूरी हो गयी। श्वास खड़ी होने का आशय व्यापकता में साधक के स्वत्व का विलीनीकरण हो जाना है। अहं समाहित हो गया तो एक तरह से इस दुनिया से मर गया, ईश्वर में पैदा हो गया योगी महात्मा इसे ही अपना जन्म मानते हैं। श्वास रुकने का मतलब है मृत्यु होना – इसके बाद उस परप्रकृति के बंधन नहीं रहे – प्रकृति पार हो गया। इस अवस्था में संस्कार समूह भस्म हो जाता है – इस तरह से वह संसार से परे हो जाता है। भव बंधन से मुक्त हो गया। श्वांसा रूपी सूर्य रुक गया, तो इसे भक्ति रूपी कौशल्या समझ पाती है। और कोई जान नहीं पाता। इस तरह से यह साधक के अन्दर परमात्मा की पैदाइश होती है। फिर विवेक रूप लक्ष्मण, भाव भरत, शत्रुघ्न सत्संग ये सब आ जाते हैं। ईश्वर के अंशरूप ये सब सजातीय तत्व साधक के अन्दर आ जाते हैं।

जो आनन्द सिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥

सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा॥

विश्व मरण पोषणकर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

जाके सुमिरन ते रिपु नासा। नाम सत्रुहन वेद प्रकासा॥

दो. – लच्छन धाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।

गुरु वसिष्ठ तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥

राम का स्वरूप आत्मा का है। एक होता है नाम और एक होता है नामी। नाम से नामी को जाना जाता है। तो नामकरण में गुरु बताते हैं कि राम उस परमात्मा का नाम है, जो आनन्दमय है व्यापक है, जिसकी एक बूंद अथवा एक अंश के रूप में शरीरों में यह आत्मा है। और उसी इनर्जी से ये स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर रूप तीनों लोकों का संचालन-पालन होता है। इस तरह से वही एक आत्म तत्व, समस्त लोक-लोकान्तरों का आश्रय है, आधार है, उसका नाम राम है, वह सबमे

रमण करने वाला जो व्यापक और आनन्दमय आत्मा है, उसकानाम राम है। वही सबका विश्राम स्थान है - वही हमारा गंतव्य है। उस शान्ति सुख के धाम का नाम राम है। 'रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः' - योगी जन उसमें अपनी पहुँच बनाते हैं। और वही जीवात्मा रूप में सब शरीरों में लीला कर रहा है। साधक के अंदर ज्ञान से भक्ति से योग से यह क्लियर दिग्दर्शन हो जाय - अनुभव में बात आ जाय तब इसे राम का जन्म होना कहा जाता है।

और उस के सहयोगी अंश रूप में भाव भरत है। यह विश्व का भरण-पोषण करने वाला तत्व है भाव। 'भावो हि भव कारणं' और 'भाव वश्य भगवान्'। तो भाव में वह क्षमता है कि चाहे तो घसीटकर संसार में ले जाय और चाहे तो भगवान की गोद में बैठा दे। दोनों क्षेत्रों में यह काम करता है। ऐसा यह भाव रूप भरत बड़ा क्षमतावान है।

शत्रुघ्न है सत्संग। यह जो साधक के अन्दर आत्मा के विपरीत विचार-वृत्तियां हैं उन शत्रुओं को नष्ट कर देता है, और सत्य-आत्मा का संग करा देता है। यह सुमति रूपी सुमित्रा से पैदा होता है। वेद-शास्त्र और संत सब सत्संग के महत्व को स्वीकार करते हैं। और इसकी महिमा का बखान करते हैं। साधना की गतिविधि समझकर और उस पर चल कर सत्य का साक्षात्कार कर लेना, सत्य को हमेशा संग लिए रहना, सत्संग है। गोस्वामी जी कहते हैं कि -

‘मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहां जेहि पाई।।’

सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ।।’

ऐसा यह सत्संग रूप शत्रुघ्न है। और जो ज्ञान स्वरूप राम का अनन्य प्रेमी है, वह विवेक ही लक्ष्मण है। विवेक के बिना ज्ञान रह नहीं सकता। विवेक से ही सत्य का ज्ञान होता है, यह प्रपंच तो सत्य-असत्य, भला-बुरा, गुण-दोष से मिल कर बना है। साधक अपने विवेक के द्वारा इन्हें अलग-अलग करके सजातीय तत्वों का अपने अन्दर संग्रह करता है। दोषों का त्याग करता जाता है। इस तरह से यह लक्षणों का धाम है विवेक। यह विवेक आधार है - इसी पर साधक के अन्तर्जगत को संभाल रखने की जिम्मेदारी आती है। और सही विवेक वही है जो मन-बुद्धि से संसार को निश्शेष कर दे- ऐसा यह शेषावतार है। विवेक का स्वरूप ऐसा है कि यह सत्य और असत्य को अलग किए रहता है। प्रकाश रूप परमात्मा को अंधेरा रूप संसार में मिलने से रोक रखता है। इसलिए यह सबसे बड़ी ताकत है। यही काम को मार

सकता है। इस तरह से भाव, सत्संग और विवेक, ये तीनों राम के साथ-साथ साधक के अन्दर प्रादुर्भूत हो जाते हैं। और अपनी-अपनी जगह पर काम करेंगे।

इहां उहां दुइ बालक देखा।

मति भ्रम मोरि कि आन विसेषा।

दो.- देखरावा मातहिं निज, अद्भुत रूप अखण्ड।

रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।।

जैसे श्रीमद्भागवत में प्रसंग आता है कि जब अक्रूर ले जा रहे थे कृष्ण को गोकुल से मथुरा, तो यमुना में जब नहा रहे थे अक्रूर, तब अक्रूर को जल के भीतर और उधर बाहर रथ में, दोनों जगह कृष्ण दिखे। तब अक्रूर को विश्वास हो गया। तो एक अवस्था में अपने अंदर अलौकिकता दिखाई पड़ती है, और तभी विश्वास दृढ़ होता है कि भगवान अपने अन्दर है - और साधक उसकी अनुभूति कर लेता है। भजन करते करते जब श्वांसा खड़ी हो गयी, तो उसमें रिफ्लेक्सन (परावर्तन) होगा। तो वह जो अन्दर बैठा है परमात्मा, हमारे सामने खड़ा होकर बात करने लगेगा। प्रतीक उपासना होने लगी। जब यह अलौकिकता हममें आ गयी तो हमारी दुनिया बदल जायगी। दूसरी दुनिया में चले गये। ये ऐसी बातें योगिक प्रक्रिया में हैं। जिन्होंने किया है, वे इन्हें जानते हैं, लगन से भजन करे, तो फिर सब दिखाई पड़ जाता है। पूरा रहस्य खुल जाता है। और होता है सब अपने में ही, बाहर कहीं कुछ नहीं है।

दो. - व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुण नाम न रूप।

भगत हेतु नाना विधि, करत चरित्र अनूप।।

ऐसा जो अज, अविनाशी, परमात्मा है, वह भक्त साधक के लिए चरित्र करने लगता है। जब वह भक्त साधक अपने हृदय में उसे पकड़ लेता है। उसी भक्त के लिए अलौकिक रूप से होते हैं चरित्र। वही देख पाता है जिसके अन्दर होते हैं। लेकिन कहते हैं -

‘चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि मन बानी।।’

अपने हृदय में भगवान की लीला को देखते हुए भी, मन-बुद्धि के द्वारा उसे जानने-समझने में दिक्कत आती है। क्योंकि परमात्मा की लीला मन, बुद्धि, वाणी से परे है।

यह सगुन लीला, भगवान अपने भक्त के अन्दर इष्ट रूप में प्रत्यक्ष होकर, उसके कल्याण के लिए करते हैं। साधक को अन्दर से आत्मिक संकेत सकुन; अंग

फड़कन या अनुभूतियों के रूप में सूक्ष्म वाणी के रूप में मिलते हैं, उन्हें कहते हैं भगवान की सगुनलीला। यह अनुभव क्षेत्र की बात है, इसलिए कहते हैं किमन, बुद्धि से परे की बात है। गोस्वामी जी ने इसी आशय से लिखा है कि -

‘निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहीं कोय।

सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय।।’

तो यह सगुन लीला वही जान पाता है जिसके अन्दर यह लीला जाग्रत होती है। प्रैक्टिकल बात है। निर्गुण इसलिए सुलभ है क्योंकि थ्योरिटिकल व्याख्या का विषय है - कोई भी समझ ले। और वह सगुन लीला तो वही देखेगा-समझेगा, जिसके अन्दर प्रकट होकर वह परमात्मा चरित करता है। वह करके देखने की बात है, अनुभव कहते हैं उसे। इसलिए कोई बिरला महात्मा ही उसे कर पाता है। यह कहने में आने वाली बात नहीं है अनुभूति का विषय है। सही साधना प्रक्रिया को लिए बिना, उस अलौकिक क्षेत्र में प्रवेश हो नहीं पाता। और वह अलौकिकता आए बिना इन आत्मिक अनुभूतियों को साधक जल्दी पकड़ नहीं पाता। क्योंकि अभी कमजोरी भरी है अन्दर। भजन के प्रभाव से आत्मविश्वास जब तक आ नहीं जाता, तब तक - सैद्धान्तिक बातों में फंसाव बना रहेगा - साधक अपनी तर्कनाओं में उलझा रहता है, ईश्वर की सही एडजस्टिंग कर नहीं पाता। तो यह तर्कना बड़ी भारी बाधा है साधना में।

इसके रहते विश्वास जमने नहीं पाता। साधक के अन्दर एक अनिश्चय की स्थिति बनी रहती है कि मैं जो अभी तक जान पाया हूँ, जो साधन कर रहा हूँ यह ठीक है या नहीं। मुझे सफलता मिलेगी या नहीं मिलेगी। आत्मा ही परमात्मा का रूप है या कुछ और चीज है ईश्वर? आदि आदि बातें, साधक को जमने नहीं देतीं। उसमें दृढ़ता नहीं आने देतीं ये तर्कनाएं। तो अब एक ही तरीका है कि आत्मविश्वास आ जाय अपने में। बिना विश्वास रूपी विश्वामित्र के आए यह तर्कना मर नहीं सकती। और जब तक यह रावण की नानी ताड़का जीवित रहेगी, तब तक यह जानकारी रूपी यज्ञ पूरा होने नहीं देगी। इसलिए अब इसे समाप्त करने का उपाय होगा। तो जब वह अलौकिक चरित्र भक्ति रूपी कौशल्या के द्वारा देख लिए गए और गुरु से कुछ और युक्तियां सीख पाए तो अब आत्मविश्वास आ जाएगा।

विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं विपिन सुभ आश्रम जानी।।

जहं जप जाग जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहिं डरहीं।।

देखत जज्ञ निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं।।

गाधि तनय मन चिंता व्यापी। हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी।।

तब मुनिवर मन कीन्ह विचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥

एहू मिस देखौ पद जाई। करि बिनती आनौ द्वौ भाई॥

ज्ञान विराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नैना॥

दो. - बहु विधि करत मनोरथ, जात लाग नहिं बार।

करि मज्जन सरजू जल, गए भूप दरबार॥

यह ताड़का, सुबाहु, मारीच, विश्वामित्र वहां कहीं आदमी के रूप में नहीं बैठे हैं। यह बहुत सूक्ष्म तौर तरीका है अन्तर्जगत का। यह इस मानस के चरित हैं। साधक के अपने राम की रामायण है यह। यहां ध्यान धनुष का काम है, त्याग तरकश का काम है, वाणी वाण का काम है, बस इतना ही तो है उसके पास। विवेक लक्ष्मण का काम है, भाव भरत का काम है, सत्संग शत्रुघ्न का काम है। अवध कहते हैं शरीर को। एक अवधि के लिए यह शरीर हमें मिला है। दसों इन्द्रियाँ दशरथ हैं, भक्ति कौशल्या है, कर्म कैकयी, समुति सुमित्रा है। ज्ञान रूप वशिष्ठ है। श्वासासरजू है। और यह हृदय दरबार है। इस अवध में जन्म होता है भगवान का।

‘जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसिसरजू बह पावनि॥

जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं वासा॥’

यह नई बात नहीं है। श्वासा रूप सरजू में जो लीन हो जायेगा, जो इसमें खो जायेगा- उसे प्राप्ति तो होगी। तो जब दसो इंद्रियों को हमने रोका, साधन में लगाया, ज्ञान-गुरु की कृपा से, इस अवध में। तो अब एक ही जरूरत थी कि यह बाधा हट जाय। रोज की परेशानी थी। मन रूपी मारीच यज्ञ नहीं करने देता। जानने नहीं देता ईश्वर को जानकारी रूप यज्ञ में यह स्वभाव रूपी सुबाहु हड्डी मांस फेंक देता है-विघ्न कर देता है। स्वभाव बन गया है, विषय करने का। स्वभाव बन गया है-मीठा खाने का, स्वभाव बन गया है -नालायकी करने का, स्वभाव बन गया है-खराबी करने का। यह स्वभाव रूपी सुबाहु है। और मन रूपी मारीच है। और ये तर्कना रूपी ताड़का के दोनो लड़के हैं। तो अब क्या किया जाय? तो एक ही उपाय है-दूसरा नहीं है। अब विश्वास (आत्म विश्वास) रूपी विश्वामित्र आवे। हमको विश्वास आना चाहिए। तो जब विश्वामित्र अवध में आए तो वशिष्ठ बोले-दशरथ! चलो देखो, महर्षि आये हुए हैं - चलो उनके चरणों पर गिरो। दशरथ गए, उनको लाए, पैर धोये, बैठाए और कहा अहोभाग्य हैं, कि इतने बड़े महर्षि मेरे यहाँ पधारे। मेरा वंश तर गया, मेरा कुल कुटुम्ब तर गया। अब आप बताइये कि किस हेतु से यहाँ पधारे हैं, वह हेतु बताइये। जिससे मैं सेवा के लिए तत्पर हो सकूँ। उसे पूरा कर सकूँ।

विश्वामित्र बोले, राजन् हम अपना हेतु बताएंगे। तुम बहुत अच्छे मालूम पड़ते हो। तुम सूर्यवंश के राजा हो। तुम नहीं पूरा करोगे, तो कौन करेगा? हे राजन्! मुझे राम को दे दो। राम और लक्ष्मण, दोनों भाइयों को दे दो। मुझे असुर सताते हैं, और मुझे ऐसी अनुभूति हुई है कि इनके द्वारा काम होगा। तो दशरथ बोले- मैं इनको नहीं दूंगा। पहले तो सब देने को कहा था। लेकिन इतना अधिक मोह इनमें था। तो इसे ऐसे समझो कि यह बाहरी नाटक नहीं है। यह शरीर अवध है और इसमें दसों इंद्रियों में अनुगत चेतन का प्रतिबिम्ब है दशरथ। वह ज्ञान राम और लक्ष्मण विवेक को अपनाए बैठ है। स्थूल में इनका उपयोग कर रहा है - शरीर के स्तर पर रखना चाहता है। पदार्थ बनाकर लेना चाहता है। तो वशिष्ठ-विशिष्ट ज्ञान जो गुरु है, वह बताता है कि यह ठीक नहीं है, इनको संकल्पों में बहने दो। राम और लक्ष्मण के रूप में ज्ञान और विवेक की जो इनर्जी तुम्हें मिली है अन्तर्जगत में, वह तुम्हारे काम आने वाली है। विश्वास रूपी विश्वामित्र को दे दो। विश्वास के साथ इनके हो जाने पर ही काम पूरा होना है। फिर जो तर्कना रूपी ताड़का है वह खत्म हो जायगी, तो जानना रूपी यज्ञ पूरा हो जाएगा। सही जानकारी हो जाएगी और सब काम हो जाएंगे।

हे राजन्! ये राम को राम बनाने आए हैं। अभी राम अधूरा है। राम पूरा नहीं है। ये राम बनाएंगे इसको। फारमूला है इनके पास कि राम को राम बना देंगे। अभी यह अधूरा है- इसे पूरा राम बना देंगे। इसलिए इन्हें दो, मोह का त्याग करो। यह मंत्रणा साधक के अन्दर चल रही है। विचार चल रहा है और अन्ततः निर्णय मिल गया कि ज्ञान और विवेक का सही उपयोग यह है कि इनकी मदद से ईश्वर की सही जानकारी हो। जब विश्वास के साथ ज्ञान-विवेक काम करने लगेंगे तो तर्क न रह जाएगा और सत्य को जानने में देर नहीं लगेगी। तो इस तरह से जब मामला हल हो गया, तो विश्वामित्र राम लक्ष्मण को लेकर गये। तो पहले ताड़का मारी गई। एकहिं बाण प्राण हरि लीन्हा। जब विश्वास आ गया तो एक ही बाणी में शंका समाधान हो जाता है। वाणी रूपी वाण से मार दी गई ताड़का - तर्कना समाप्त हो गई साधक के अन्दर से। ये जो तर्कनायें भरी हैं, हमारे हृदय में, यही ताड़का है। और मन रूपी मारीच है। और जो मन का बुरा स्वभाव बन गया है, यही सुबाहु है-यह सब विघ्न डालते हैं-हमारी साधना रूपी यज्ञ में। हमें अनुसंधान नहीं करने देते। हमें ईश्वर की जानकारी नहीं करने देते। तो एक ही चीज़ की कमी है हमारे पास, कि विश्वास नहीं है हमारे पास। और अगर विश्वास हो जाय, तो कार्य में परिणत हो जाय। तो जैसे ही विश्वास (विश्वामित्र) आए अवध में। और राम लक्ष्मण

को साथ लिये, बस फिर शुरू हो गया यज्ञ। तर्कना रूपी ताड़का को मार दिया गया है। कोई तर्क नहीं रह गया। तब क्या है? तब तो रैपिड प्रमोशन (तीव्र प्रगति) होगा। अब तो जल्दी से जल्दी आगे-ऊपर बढ़ जायेंगे। अपने साधन में आगे बढ़ जायेंगे। यज्ञ शुरू किये-जानने का प्रयास किये। स्वभाव रूपी सुबाहु को खत्म किया। स्वभाव समाप्त हुए बिना परमानन्द की प्राप्ति हो नहीं सकती।

‘गुण सुभाव त्यागे बिना, दुर्लभ परमानन्द’

इसलिए इस सुबाहु रूपी स्वभाव को मिटाना पड़ता है और मन रूपी मारीच को क्या किया, कि -

‘बिनु फर वाणराम तेहि नारा। सत योजन गा सागर पारा।।’

मन का ट्रांसफार्म हो गया। संसारी विषयों से हटकर ईश्वर में लग गया, वाणी रूपी वाण के प्रभाव से। यह बाहरी वाण नहीं है। बाण तो बिना फर (नोक) का होता नहीं। इसलिए वाणी रूपी वाण है। मारीच के सागर पार जाने का मतलब है कि मन संसार से हटकर भगवान में लग जाय। सत योजन अर्थात् सत वस्तु आत्मा से संयोजन हो गया, जुड़ाव हो गया। मन का ट्रांसफार्म हो गया। ऐसी यह प्रक्रिया चलती है अन्दर ही अन्दर। सौ योजन सागर का मतलब यह भी है कि संसार का बहुत बड़ा विस्तार है - स्त्री, पुत्र, धन, सम्मान आदि अनेक तरह से। इन सबसे मन हट जाय, परमात्मा से जुड़जाय, तब ठीक है। तो बगैर विश्वास के दृढ़ता आती नहीं। और यह तर्कना है - ताड़का राक्षसी। जहाँ हम जानने का प्रयास करते हैं, जग्य करते हैं, वहाँ ताड़का के-मन रूपी मारीच और मन का बुरा स्वभाव रूपी सुबाहु- ये दोनों लड़के विघ्न डाल देते हैं। जहाँ जानकारी आई ईश्वरीय विचार बना, तो हमारा स्वभाव है बीड़ी पीने का, हमारा स्वभाव है भांग खाने का, तो झट उसके संकल्प आ जाएंगे। तो इस तरह से ईश्वर की जानकारी रूपी जग्य में, ये विघ्न बार-बार आते हैं। इनके कारण यह काम पूरा हो नहीं पाता। ये दोनों क्षमता कहाँ से पाते हैं - तर्कना रूपी ताड़का से। अवध है-शरीर, इसमें साधना क्रम से जब विश्वास आया, तब जाकर यह तर्कना रूपी ताड़का को मारने का उपाय बन गया। मूल खत्म हो गई। और मन रूपी मारीच को हटा दिया गया। रूपान्तरण कर दिया गया। और मन के स्वभाव (सुबाहु) को खत्म कर दिया। अब भूमिका बन गई। अब साधक राइज हो गया, उठ गया। अब हमारा विश्वास जम गया। अब हमारी तर्कना खत्म हो गई। यज्ञ पूरा हो गया- ईश्वर की सही एडजस्टिंग बन गई। ईश्वर की जानकारी मिल गई।

तहं पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह विप्रन्ह पर दाया।।

भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे विप्र जद्यपि प्रभु जाना।।

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई।।

धनुष जग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिवर के साथ।।

इस तरह से जब सही भूमिका बन गई, तो फिर न्योता मिल गया – जनक राजा का न्योता। ‘महर्षि पधारें-धनुष यज्ञ कर रहे हैं। धनुष जो तोड़ेगा, उसी के गले में, सीता वरमाला पहनाएगी।’ तो विश्वामित्र को थोड़े पहनाना था वरमाला। यह क्यों कोई ख्याल नहीं करता-क्यों बुलायाथा विश्वामित्र को? ऋषि तो उसी के पास तमाम थे। स्वयं जनक भी ऋषि (योगी) था। महान महात्मा था वह, ऐसा लिखा मिलता है। लेकिन यह तो साधनात्मक रूपरेखा है एक साधक के अंदर की। यह वह कहानी वाला जनक नहीं। योग रूपी जनक है। तर्कना रूपी ताड़का के कारण, मन मारीच और खराब स्वभाव के कारण जो हम अभी तक योग में आरुढ़ नहीं हो पा रहे थे। इन सबके रूप में जो बाधाएं थीं, वो जब हट गयीं और विश्वास जब दृढ़ हो गया। तो अब योगारुढ़ होने का समय आ गया। जनक-योग का निमंत्रण मिल गया। विश्वामित्र बोले, ‘राजा जनक का न्योता आया है, राम-लक्ष्मण! मेरे साथ क्या नहीं चलोगे? तो यह सब नाटकीय शैली है। राम-लक्ष्मण तो ज्ञान और विवेक हैं। न्योता तोयोग का साधक के लिए है। योग कोई आदमी तो नहीं है। योग है जिससे शक्ति जन्म लेती है। क्षमता आती है साधक में। जनक का अर्थ है जिससे शक्ति जनी जाय। शुद्ध अर्थ जनक का होता है पिता, जिससे कोई चीज़ जनी जाय। पिता को जनक कहते हैं। जनक है योग। योग करेंगे, तो सीता-शक्ति पैदा होगी। तो न्योता आ गया- क्यों न्योता आ गया, क्योंकि जो बाधाएं थीं। उन सबको हटा दिया गया। तो अब योग के मिलने में कोई दिक्कत नहीं रह गयी। तो योग रूपी जनक है। और ध्यान रूपी धनुष है। जो ध्यान रूपी धनुष को तोड़ेगा अर्थात् ध्यान की अन्तिम स्थिति को ध्यान की पूर्णता को प्राप्त कर लेगा वह शक्ति रूपी सीता को वरण करेगा। यह जनक का प्रण है – मतलब कि ध्यान ही योग की कसौटी है। ‘योगश्चित्तवृत्ति निरोधः’ इसी से साधक में क्षमता आती है। ध्यान रूपी धनुष को जो चढ़ाता है, उसे शक्ति-सीता मिलती है। यह नियम है। यह योग रूपी जनक की शर्त है। चित्त को संसार से हटा लेना ही योग है, यही भव-चाप का खण्डन करना है। यही ध्यान रूपी धनुष को चढ़ाना है।

आश्रम एक दीख मग माहीं। खम मृग जीव जन्तु तहं नाहीं।।

पूछा मुनिहिं शिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा विसेषी।।

दो. - गौतम नारि श्राप बस, उपल देह धरि धीर।

चरन कमल रज चाहति, कृपा करहु रघुवीर।।

गौतम का मतलब है श्रेष्ठ सजातीय भावनाओं से युक्त इंद्रियों में चेतन का प्रतिबिम्ब। और अहल्या - अ, अनुराग, हृदय और ल लव या लगन। हृदय में प्रेम की लगन का रूप अहल्या है। कहते हैं ब्रह्मा ने अहल्या को बहुत सुन्दर अलौकिक बनाया और गौतम ऋषि को दे दिया। तो इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के हृदय में जो अनुराग युक्त लगन होती है वह दिव्य शक्ति है। उसका इंद्रियों की सजातीय भावनाओं के साथ जोड़े रखना ही ठीक है। गौतम के संसर्ग से यह अहल्या सतानन्द को पैदा करती है। सच्चा आनन्द ब्रह्मानन्द को देने वाली होती है। और अगर विजातीय भावनाओं में यह प्रेममयी लव लगेगी तो यह दूषित और शापित होकर जड़वत हो जाती है। पत्थर हो जाती है। इंद्रियों का अधिपति मन ही इन्द्र है। वह जब इसे विषय में फंसा लेता है, विषय में लव लग गई तो यह दूषित होकर, गौतम ऋषि के शाप से पत्थर बन जाती है। पत्थर प्रतीक है जड़ता का। इसका मतलब है कि फिर हृदय की अनुराग युक्त लगन विषयी मन के संसर्ग से विषयों में ही लगी रहेगी - जड़वत होकर उधर ही पड़ी रहेगी। विषय करते-करते इंद्रियां जड़वत हो जाती हैं। ईश्वरीय क्षेत्र में काम नहीं करेंगी। ज्ञान-ध्यान की बातों में रूचि नहीं रह जाती। ईश्वरीय कर्तव्यों के प्रति उसकी चेतना, उसकी संवेदना मृतप्राय हो चुकी होती है - विषय में रत होने से। यही है अहिल्या के पत्थर होने का तात्पर्य। अब जब पुनः सुयोग बना और भगवान के चरणों का स्पर्श मिला तो वही दिव्य अनुरागमयी लव जीवन्त हो जाती है। विषय में लगने से जड़वत होने का अभिशाप, ईश्वरीय स्पर्श के होते ही समाप्त हो जाता है -

‘परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट मई तप पुंज सही।’

संसार से हटकर भगवान में लव लग जाय तो फिर तत्काल ‘गई पति लोक अनन्द भरी।’ पतिलोक अर्थात् परमात्मा के क्षेत्र में पहुंच बन जाती है। तो यह दृश्य मानस में तब आता है, जब जनकपुर के रास्ते में हैं - ज्ञान-विवेक स्वरूप राम-लक्ष्मण, विश्वास रूप गुरु विश्वामित्र के साथ। तो इसका मतलब यह है कि जब विवेकवान साधक योगारूढ़ होने की स्थिति वाला हो, तो उसे गुरुकृपा से प्राप्त इस युक्ति को अपने अन्दर दृढ़ कर लेना चाहिए कि हमारी लगन-हमारा प्रेम संसारी

विषयों के बजाय अपने लक्ष्य में (परमात्मा में) ही रहे। तब सफलता मिलेगी। योगारूढ़ होने वाले साधक में ये सब जरूरी-जरूरी योग्यताएं आती जा रही हैं।

चले राम लछिमन मुनि संग। गए जहां जग पावनि गंगा॥

गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। विविध दान महि देवन्ह पाए॥

हरषि चले मुनि वृंद सहाया। बेगि विदेह नगर नियराया॥

पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत विसेषी॥

ज्ञान की गंगा है जो पावन बना देती है। लेकिन गोस्वामी जी ने जगह-जगह भक्ति को गंगा कहा है। तो दोनों सही हैं। ज्ञान है गंगा का जल और भक्ति है उसका प्रवाह। दोनों रहते हैं उसमें, तब गंगा का रूप बनता है। ज्ञान और भक्ति इस तरह से एक ही हैं - अलग-अलग नहीं हैं।

‘ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु मेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥’

दोनों मिलकर गंगा का रूप लेते हैं। गुरु से शास्त्र से जो जानकारी मिली - यह ज्ञान, और उस जानकारी को क्रिया में ले लिया - यह भक्ति। तो दोनों एक हो गए।

तो इस ज्ञान की गंगा में जो मज्जन कर लेता है - वह कल्याण के रास्ते में अग्रसर हो जाता है। और फिर ‘वेगि विदेह नगर नियराया।’ फिर जल्दी से जल्दी, उसे यौगिक प्रक्रिया पकड़ में आ जाती है। साधक के अन्दर जितने सजातीय गुण-धर्म हैं - ये ऋषि-मुनि सब, ज्ञान का संचार होने से प्रफुल्लित हो जाते हैं। साधना में सहयोग देते हैं। साधक के अन्तःकरण में सर्वत्र रम्यता आ जाती है। जितने शरीर के अन्दर के कोश भाग हैं, सबमें रमणीकता झलकने लगती है। यहाँ विदेह नगर की शोभा के रूप में योगारूढ़ साधक की उल्लास युक्त अनुकूल मनोदशा का चित्रण किया गया है। हां तो वहां विश्वामित्र ने कथा बताया कि कैसे यह गंगा आई है। वह कथा तुम लोग जानते हो। सूर्यवंश के राजा भगीरथ लाए थे गंगा को। मतलब यह है कि निवृत्ति मार्ग वाले महात्माओं की मेहनत से यह ज्ञान हमारे समाज में आया है। और अगर कोई साधक भगीरथ प्रयत्न करे, लगन करके मेहनत करे - अहर्निश श्वांसा में नाम का यजन करे, और अपनी सेवा-तपस्या से संतसद्गुरु स्वरूप-शंकर को खुश कर ले। तो जो उन संत-शंकर की जानकारी रूपी जटाओं में समाई हुई है ज्ञान-गंगा, वह निकल पड़ेगी और पूर्वजों तक को तार देगी। आत्म-ज्ञान की पवित्र भागीरथी में अवगाहन करने से, जन्म-जन्म के कुसंस्कारों से

मुक्ति मिल जाएगी। हाँ, पुरुषार्थ तो करना पड़ेगा। साधना तो करनी ही पड़ेगी। प्रत्येक साधक सूर्यवंशी राजा ही तो है अगर वह निवृत्ति मार्ग वाला है, और साधना की सही गतिविधि को लेकर चल रहा है। लेकिन भगीरथ तो वही कहा जाएगा जो जान हथेली में रखकर, तीव्र लगन के साथ, प्राप्ति काल तक कठिन से कठिन परिश्रम करता रहे, और कभी हिम्मत न हारे।

भलेहिं नाथ कहि कृपा निकेता। उतरे तहं मुनि वृंद समेता॥

विश्वामित्र महामुनि आए। समाचार मिथिलापति पाए॥

दो. - संग सचिव सुचि मूरि भट, भूसुर अरु गुरु ज्ञाति॥

चले मिलन मुनि नायकहिं मुदित राउ एहि भांति॥

इस तरह से अब जनकपुर पहुंच गए। जनकपुर, अयोध्या, चित्रकूट, लंका, पंचवटी - सब इसी शरीर के अन्दर साधना की स्थिति के अनुसार बनते चले जाते हैं। वहां कोई कहीं आया गया नहीं, यहतो साधन प्रक्रिया एक साधक के अन्दर चल रही है। जब साधन-भजन नहीं होता और शरीर की आसक्ति में रहता है आदमी, और मन में मोह का साम्राज्य बना रहता है। तब यह कंचन काया, रावण की राजधानी लंका कही जाती है। फिर जब काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष के कारण अन्दर से व्याकुलता आई और ईश्वर की पुकार हुई - मन इंद्रियों सहित ईश्वरोन्मुख हुआ - यह दशरथ राजा बनकर बैठ गया - तब अवध कह दिया जाता है। इसी में भक्ति होने लगी तो इस भक्ति रूपी कौशल्या से प्रकट होकर राम आकर बैठ गया अन्दर अंशों के सहित और फिर भजन की प्रक्रिया आगे चलती रही तो विश्वास आ गया, तर्कना नहीं रह गई, खराबी करने का स्वभाव मिट गया। और मन पूरी तरह से बदल कर ईश्वर में लग गया। तब अहल्या का उद्धार हो गया - मन की लगन जो उधर विषयों में थी अब नहीं रह गई। भगवान में लव लग गई। गुरु की कृपा से ज्ञान की गंगा में अवगाहन हो गया। अब साधक इस अवस्था में योग-साधना की प्रक्रिया को पकड़ने के योग्य हो गया। तो इसे जनकपुर कह दिया गया। इस तरह से अब योगारूढ़ हो गया। ध्यान रूपी धनुष चढ़ाकर शक्ति-सीता को प्राप्त कर लेगा। कर्तव्यरूपी कैकयी की प्रेरणा से वनवास में चला जाएगा - सूक्ष्म साधना में प्रवेश पा जाएगा। और जब चित्त की गति को रोक लेगा तो चित्रकूट में निवास हो जाएगा। ऐसे स्टेप बाई स्टेप (क्रमशः या सीढ़ी दर सीढ़ी) प्रगति करता जाएगा। तो एक दिन राक्षसों को मार कर राम राज्य की स्थिति में पहुंच जाएगा। तो यह रामायण साधक के लिए क्रियात्मक साधना का रूप है।

जनक का अर्थ है जन्म देने वाला। जिससे शक्ति या क्षमता रूपी सीता पैदा होती है। योग साधना से क्षमता आती है। इसलिए योग है जनक। जनकपुर में पहुंचने का मतलब है कि साधक अब योगारूढ़ होकर योग साधन में लग गया। जब यहां का काम पूरा होगा। तब सीता उसे मिल जाएगी। तो साधना अब धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते यहां तक पहुँच गई। योग होने लगा। योग का मतलब है कि मन हमारा परमात्मा में लगे। उसमें जुड़े। सबसे पहले तो अपने अन्दर मानस की रूपरेखा बने। बाहरी संसार की आसक्ति से ऊबकर मन उधर से हटे और आत्मोन्मुख हो। और फिर ईश्वरीय भाव-वृत्तियों के संयोग से इस हमारे मानस में परमात्मा रूपी हंस का अवतरण हो। वह -मुनि महेस मन मानस हंसा-आकर प्रतिष्ठित हो जाय हृदय में, ईश्वरीय गुण धर्मों के साथ। फिर विश्वास दृढ़ हो जाय और तर्कना मर मिट जाय। बुराई में जाने का स्वभाव खत्म हो जाय। समझ में क्लियर (स्पष्ट) एडजस्टिंग (समायोजन) पूरी तरह से आ जाय और हृदय में अनुराग जाग्रत हो जाय, लव लग जाय, तब योग में आरूढ़ होने की स्थिति बनती है।

योग का मतलब राजयोग से होता है। इसमें हठयोग, लययोग, निष्काम - कर्मयोग सब समाहित रहते हैं। राज योग मन को नियंत्रित करके इनर्जी प्राप्त करने का तरीका है। और यह प्रैक्टिकल (क्रियात्मक) तरीका है। शरीर के अन्दर जो ऊर्जा के केन्द्र हैं, उन्हें योग की भाषा में कुंडलिनी या कमल अथवा चक्र कहा जाता है। शास्त्रों-पुराणों में इन्हें ही बैकुंठ, शिवलोक, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक आदि नामों से कहा गया है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इन छः चक्रों में जो शक्ति केन्द्रित है उसे सविधि साधना के द्वारा अर्जित किया जाता है। और उस क्षमता से फिर अपने लक्ष्य को हासिल कर लिया जाता है। तो सामान्य संसारी आदमी जो साधना नहीं करता, उसके ये चक्र या कमल अधोमुखी रहते हैं - संसार क्षेत्र में शक्ति का क्षरण करते हैं। और जब हम श्वांसा का जप करने लगेंगे तो श्वांसा से टकराते-टकराते ये कमल ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं। और इन कमलों में जो-जो इनर्जी है, वह हमको उठाकर उधर (संसार) से इधर (आत्मोन्मुख) ले जाने लगती है। मणिपुर (नाभि) में लक्ष्मी-विष्णु का निवास है, हृदय या अनाहत में शिव-पार्वती का और कंठ में सरस्वती - ब्रह्मा की शक्ति है। साधक में ये सब शक्तियां आ जाती हैं - योग साधना से। इन सब की सम्मिलित क्षमता का नाम है सीता। इसलिए गोस्वामी जी कहते हैं -

‘उमा रमा ब्रह्मादिवंदिता। जगदम्बा संततमनिन्दिता॥’ वह बहुत बड़ी क्षमता है। इसीलिए योगी को सबसे ज्यादा क्षमतावान माना गया है। गीता में कहते हैं -

‘तपस्विभ्योधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्मात् योगी भवार्जुन॥

उसी डिग्री को पाने के लिए ये सब साधक देश-देश के राजा जुटे हुए हैं। तो यह उसी सीता को वरण करने की उपायभूत योगसाधना चल रही है जनक पुर के कथानक में।

दो. - रिषय संग रघुवंस मनि, करि भोजन विश्राम।

बैठे प्रभु भ्राता सहित, दिवस रहा भरि जाम॥

लखन हृदय लालसा विसेषी। जाइ जनकपुर आइय देखी॥

जनक आए अपने मंत्रियों आदि के साथ और ले जाकर उन्हें सम्मानपूर्वक ठहरा दिया। जनक द्वारा राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र का स्वागत - अभिनन्दन किया गया - इसका आशय यह है कि साधक योग में आरूढ़ होने की योग्यता प्राप्त कर चुका है, उसे इस तरह से प्रमाणित किया जा रहा है। योग रूप जनक उसे अपनाने को तत्पर है। तो सबसे पहिले नगर देखने गए राम-लक्ष्मण। विदेह नगर को देखने का अर्थ है कि अन्दर की जानकारी कर ली जाय। यौगिक प्रक्रिया में जरूरी है, यह देखना समझना, कि वहाँ की कैसी - क्या गतिविधि है। योग के जितने अंग-प्रत्यंग हैं - ये यम-नियम आदि - सब जरूरी बातें मुझमें सही तरीके से संचालित हैं या नहीं, यह सब साधक अपने ज्ञान-विवेक के द्वारा अन्दर देख लेता है, कि वहाँ सब ठीक-ठाक माहौल है। जनकपुर के निवासी सब अच्छे हैं। सभ्य, सुशील और पवित्र हैं। गुणी और ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। तो इसका मतलब है कि साधक के अन्तर्गत की ऐसी ही स्थिति परिस्थिति बनती है, योगारूढ़ होने की अवस्था में। सजातीय भावनाएं उसमें मुखरित रहती हैं। तो यह नगर दर्शन का प्रसंग एक प्रकार से पूर्वाभ्यास ही है योग क्रिया का, और फुलवारी में फलागम का संकेत मिलता है।

दो.- करत बतकही अनुज सन, मन सिम रूप लुभान।

मुख सरोज मकरंद छवि करत मधुप इव पान॥

चितवति चकितचहूं दिसि सीता ।

कहं गए नृप किसोर मनु चिंता ॥

देखि रूप लोचन ललचाने ।

हरषे जनु निजनिधि पहिचाने ॥

साधक और योग से मिलने वाली शक्ति सीता का अन्तरंग साक्षात्कार हो जाता है। यह प्रक्रिया पहुंच के करीब होने वाले साधक के अन्दर की है। फुलवारी में राम,

सीता को देखते हैं, सीता राम को देखती हैं। इसका अर्थ है कि दोनों का परस्पर आकर्षण बनता है। उधर से देख लिया कि साधक में वह पात्रता है कि योग करके क्षमता को प्राप्त कर लेगा। और उधर योग से मिलने वाली उस अपूर्व और अलौकिक शक्ति को प्राप्त करने की उत्कंठा साधक में भी जाग जाती है। उसे ऐसा लगने लगा कि इसे प्राप्त करना मेरा कर्तव्य है। संकेत मिल गए कि फल प्राप्ति अवश्य होगी। 'फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।' यद्यपि साधक कामना नहीं करता है फल की। अनपेक्ष रहता है, तो भी कर्तव्य का फल तो आएगा।

उधर सीता की सखियों की, और देवी की अनुकूलता, ये सब ईश्वरीय भावनाएं सहयोग करने लगीं तो फिर साधना सफल हुई ही समझो।

राम कहा सब कौंसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाही॥

सुमन पाइमुनि पूजा कीन्हीं। पुनि असीस दुहुं भाइन्ह दीन्हीं।

सफल मनोरथ होंहिं तुम्हारे। राम लखन सुनि भए सुखारे॥

कर्तव्य या पुरुषार्थ के साथ इसमें गुरु की कृपा भी अनिवार्य है। तो जब निश्छल भाव से गुरु के प्रति समर्पण होता है। हृदय खोलकर रख दिया गया। तब उधर से आशीर्वाद मिल गया कि -

‘सुफल मनोरथ होंहिं तुम्हारे।’

तब अन्दर खुशी आ जाती है। क्योंकि अब सफलता में संदेह नहीं रह गया। साधक के अन्दर से बुद्धि विवेक में भरोसा आ गया - कि अब गुरु महाराज की कृपा से यह काम अवश्य बन जाएगा। इसमें संदेह नहीं है। योग-सिद्धि अवश्यंभावी है।

‘लखन कहा जस भाजन सोई। नाथ कृपा तव जापर होई॥

यह सब अन्दर ही अन्दर साधक अनुभव करता है और साधनारूपी कर्तव्य पुरुषार्थ में लगा हुआ है, अनपेक्ष भाव से।

दो. - सब मंचन ते मंच एक, सुन्दर विसद विसाल।

मुनि समेत दोउ बंधु तहं, बैठारे महिपाल॥

प्रभुहिं देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भएतारे॥

असि प्रतीति सबके मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाही॥

इन्हें सबसे ऊँचा आसन दिया गया राजाओं में। राजा वहाँ कोई नहीं है - साधक ही राजा है। राजा वह है जिसके पास स्टेट हो। साधक के पास परमात्मा रूपी

स्टेट है - पुण्य की प्राप्ति है। इसलिए वह राजा है। इस संसार की नश्वर संपत्ति वैभव का कुछ मतलब तो है नहीं वहां। अपने-अपने तरीके से सब साधक उस परमात्मा रूपी स्टेट को अपनी पात्रता और सामर्थ्य के अनुसार लिए हुए हैं। पुण्य की प्राप्ति को बढ़ाने के लिए संघर्ष - पुरुषार्थ करते रहते हैं। मेहनत करते रहते हैं।

‘देश-देश के भूपति नाना।’

देश कहते हैं देह को, ये सब साधक भिन्न-भिन्न शरीरों वाले, योग साधना में पारंगत होना चाहते हैं, और आध्यात्मिक क्षमता रूपी सीता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। लेकिन इनमें जो सही गतिविधि को पकड़कर चलने वाला है, विवेकवान है और जिसमें आत्मविश्वास भरपूर आ चुका है और गुरु कृपा से सारे श्रेष्ठ गुणधर्मों को जो धारण कर लेता है, उसकी आभा सबसे अलग दिखाई पड़ जाती है। उसकी ओर सब लोग आकृष्ट होने लगते हैं। उसे इज्जत देने लगते हैं। उसकी आभा के सामने दूसरे साधक फीके पड़ जाते हैं। सब पर वह छा जाता है। वहाँ सबको लगने लगा कि राम यह धनुष अवश्य तोड़ देंगे। साधक में अन्दर-बाहर से मजबूती आ जाती है, तो सब अनुकूल हो जाते हैं। धनुष को चढ़ाने की शर्त रखी गई है - सीता को पाने के लिए। तो ध्यान रूपी धनुष है। योग-साधना में ध्यान ही कसौटी मानी जाती है - साधक के पुरुषार्थ और सफलता की। ध्यान का मतलब है कि मन अपने ध्येय में तन्मय हो जाय, ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकतानता आ जाय - ‘तत्प्रत्ययैकतानताध्यानम्।’ ऐसी एकतानता की स्थिति को प्राप्त करना धनुष चढ़ाना है। जो साधक ऐसा कर लेता है उसका ध्यान स्वाभाविक ही संसार से टूट जाता है। भव कहते हैं संसार को - भव कहते हैं शंकर को। तो संसार से चित्त का संबंध टूट जाय, यही भव चाप का तोड़ना है। संसार से हटकर भगवान में जुड़ जाय। तब फिर वह अलौकिक क्षमता आ जाती है। वह जो योग स्वरूप जनक से पैदा होने वाली जानकी है, वह वैदेही - बिना देह वाली अर्थात् दिव्यशक्ति साधक में आती है। इसी धड़-धरती से पैदा होती है। इस शरीर के अन्दर योग करने से पैदा होती है। अलौकिक रूपवाली सीता है। यह कोई साधारण लड़की नहीं है। इसे वरण वही कर सकेगा जो ध्यान रूपी धनुष को चढ़ाएगा। तो कौन चढ़ाएगा कौन तोड़ पाएगा ? गोस्वामी जी कहते हैं -

नाथ शंभु धनु भंजनि हारा। होइ हि कोउ एक दास तुम्हारा।

कोई भगवान का भक्त यह काम करेगा। इसलिए यह सब साधनात्मक बातें हैं।

वहां कोई राजा नहीं है। यह तो एक रूपक बनाया गया है। वहाँ तो सब साधक हैं। सब दास ही दास हैं और इन्हीं में से कोई एक गुरु का लाल चढ़ाएगा धनुष। तो साधक को राजा कहना उचित ही है, राज्य कहते हैं - धन को, वैभव को। महात्मा के पास भगवान रूपी वैभव है। उसके पास ज्ञान, वैराग्य, विवेक रूपी वैभव है। इसलिए अगर साधक को राजा कह दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होती। इसलिये राजा-साधक को कहा गया। जो सभी ध्यान रूपी धनुष में जूड़े पड़े हैं। देखो जितने बड़े-बड़े राजा हैं सब। और सब उठते हैं अपने से, कि मैं तोड़ता हूँ - कि मैं अपने मन को रोक देता हूँ और मन रुकता ही नहीं। हां तो सभी साधक ध्यान रूपी धनुष पर जोर आजमाइश करते हैं। उनमें कोई-कोई सफल होते हैं।

नाथ शंभु धनु भंजनि हारा। होइहि कोउ एक दास तुम्हारा।

कोई एक बिरला साधक कर पाता है -

कौन करेगा? कि - 'नाथ कृपा तव जापर होई॥'

तो भाई, भगवान जिसको दे दे वही पाएगा। गुरु की कृपा से वही तोड़ेगा, वही सीता को वरेगा। और जो वर ले गया। तो हो गया -

त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि विचार बरइ हठि तेही॥

यह तो मिलता ही है।

यह योगरूपी जनक का प्रण है। त्रिभुवन जय समेत का यहाँ क्या मतलब था, यह कैसे कहा गया? तो साधक अपने स्वरूप को प्राप्त करता है योग साधना से। वह त्रिभुवन में व्यापक चीज़ होती है। बिनहि विचार बरइ हठि तेही। मतलब अनपेक्ष रहता है योगी - तब वह डिग्री मिलती है। 'अनइच्छित आवइ वरियाई॥' अनपेक्षता बहुत बड़ी चीज़ है। हाँ बहुत सी बातें ऐसी हैं, भगवान की लीला बड़ी विचित्र होती है। समझना चाहिए और इसको अपने में लेकर, उसका सही अर्थ लेकर, उसको करना चाहिए। इस विषय में कहीं कोई दिक्कत हो, थ्योरिटिकल एड (मौखिक मदद) लेने की बात हो, तो उसे ले लेना चाहिए। लेकिन करना तो अपने को ही पड़ेगा।

सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भटमानी अतिसय मन माखे॥

परिकर बांधि उठे अकुलाई। चले इष्ट देवन्ह सिरु नाई॥

तमकि ताकि तकि सिव धनु धरहीं। उठइ न कोटि भांति बलु करहीं॥

जिन्हके कछु विचार मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥

दो. - तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न चलहिं लजाइ।

मनहुं पाइ भट बाहुबल, अधिक अधिक गँआइ॥

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टरा॥

जो साधक कामना करके साधना करता है, भजन के पीछे कोई इच्छा अभिलाषा पाले रहता है, वह निवृत्ति मार्ग में सफलीभूत नहीं हो सकता। दूसरी बड़ी बाधा है अभिमान। तो ये अन्य राजा लोग धनुष नहीं उठा पाए। क्योंकि इसमें अभिलाषा थी, और अभिमान भी था। ऐसे साधक योगारुढ़ नहीं हो पाते, जो इच्छाएं पाले रहते हैं या अहंकारी है। अपने बलबूते ध्यान की प्रक्रिया को पकड़ नहीं पाते, उसे कर नहीं पाते। यह काम ही ऐसा है कि इसमें गुरु का आश्रय और समर्पण भाव बहुत आवश्यक है। जो साधक केवल अपनी ताकत के भरोसे साधना में पारंगत होना चाहता है वह ठीक नहीं है। इससे अहंकारबाधा डालेगा। आत्म विश्वास होना चाहिए, वह जरूरी है। लेकिन अहंकार बहुत बड़ी खराबी है। पुरुषार्थ करे, परंतु उसका अभिमान न करे। और कोई कामना न रहे – निष्काम भाव से कर्तव्य करता रहे। निवृत्ति मार्ग में इच्छा रहित होना पहली चीज है। यह अनपेक्षता ही आधार है। यह नींव है जिस पर साधना की इमारत खड़ी होती है। इच्छारहित हुए बिना जो साधना की जाती है वह साधना नहीं है – वह प्रकृति क्षेत्र का काम है। विश्वरीय कर्तव्य निष्काम होना चाहिए। इसलिए अपनेक्षता साधक का प्रथम लक्षण है – अनपेक्ष : शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथा।

बहुत से लोग भूत, भैरव, भवानी और पता नहीं क्या-क्या पूजते हैं, इन इष्ट देवों के भरोसे भजन-ध्यान नहीं होता। इसके लिए सद्गुरु की मदद जरूरी है। बिना सद्गुरु की कृपा के यह काम हो नहीं सकता, चाहे कोई कितना भी महान क्यों न हो –

‘गुरु बिनु भव निधि तरै न कोई। जो विरंचि संकर
सम होई॥’

इसलिए सब राजा लोग न तो अपनी ताकत के भरोसे और न अपने उन इष्ट देवों के भरोसे, इस भव-धनुष को हिला तक नहीं सके। मतलब इस कोटि के साधक अपने चित्त को संसार से हटाने में, और ध्यान की प्रक्रियाओं में सफल नहीं होते। हजारों लाखों लोग लगे हुए हैं लेकिन कोई एक गुरु का लाल निकल पाता है भव बंधन से। वही तोड़ता है इस भव-चाप को, जिस पर गुरु की कृपा हो जाय। और गुरु-कृपा का वही अधिकारी होता है, जो अपनेक्ष हो, इच्छा रहित हो।

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरइ न टरा॥’

इसका मतलब है कि अगर साधक अपनी इन दसो बहिर्मुख इंद्रियों से हजारों प्रयत्न करके संसार से मुक्त होने का उपाय करता है, तो भी संसार में और अधिक उलझता जाता है। बाहरी तरीकों में फंसा रहता है। बिना गुरु के युक्ति बताए, वह साधक अपने चित्त को संसार से हटा कर ईश्वर में जोड़ नहीं पाता। उन्हीं बाहरी क्रियाओं को साध्य मान कर उन्हीं में उलझा रहता है। और अधिक जकड़ गया उधर ही। फिर यह सब टलाया नहीं टलता। यह प्रवृत्ति मार्ग की साधना संसार में ही फंसाए रहती है।

‘मनहुं पाइ भटबाहुबल, अधिक अधिक गरुआइ’

इसका यही मतलब है कि ऐसे लोग और ज्यादा जकड़ जाते हैं संसार में। यह ध्यान रूपी धनुष उनके बलबूते का नहीं है।

विस्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेह मय बानी॥

उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा॥

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरष विषादु न कछु उर आवा॥

ठढ़े भए उठि सहज सुहाए। ठ्वनि युवा मृगराज लजाए॥

अब देखिए, यह तरीका निवृत्ति वालों का है। सूर्यवंसियों का तरीका है, कि गुरु को आगे रखकर चलते हैं। उन्हीं के आदेश-निर्देश से, उन्हीं की कृपा से भव-चाप का भंजन कर देते हैं। अपनी तरफसे न इच्छा करते हैं, न हर्ष है, न विषाद है। सहज भाव से गुरु की आज्ञा से, उन्हीं के बल भरोसे सब करते हैं। कोई अहंकार नहीं, कोई कामना नहीं। गुरु का आश्रय लेकर चलते हैं। राम पहले वाले राजाओं की तरह से न गरजे, न तमके, न बहादुरी बताए अपनी। आज्ञा हुई गुरु महाराज की, और चल दिए सहज भाव से।

गुरु पद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आयसु मांगा॥’

गुरु के चरणों में प्रणाम किया और मुनियों से आज्ञा ले ली। तो अगर साधक में ये सब बातें आ जायं, मनमाना कायदा कानून न बनाए, सद्गुरुओं की शरण में रहे, तो वही योगारूढ़ होकर साधना के लक्ष्य को पा सकता है। संसार से निवृत्त होने के लिए निवृत्ति का रास्ता पकड़ना पड़ता है। निवृत्ति वाला ही तोड़ेगा भव चाप को। यही तो कहा था लक्ष्मण ने वहां पर। जब जनक ने कहा - ‘तजहु आस निज निज गृह जाहू।’ तो भड़क उठे थे लक्ष्मण कि -

रघुबंसिन महं जहं कोउ होई। तेहि समाज अस कहइ न कोई॥

कही जनक जसि अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुल मनि जानी॥’

इस तरह से जब साधक का विवेक निवृत्ति मार्ग की ओर तेजी पकड़ता है तो अन्तर्जगत का पूरा माहौल अनुकूल हो जाता है बाहरी परिस्थितियां भी सब साथ देने लगती हैं। वहां सब चाहते हैं कि राम धनुष तोड़ दें। और इस बात का विश्वास भी अन्दर से है।

बोली चतुर सखी मृदुबानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी॥

कहं कुंभज कहं सिंधु अपारा। सोषेउ सुजसु विदित संसारा॥

रवि मण्डल देखत लघु लागा। उदयं तासु त्रिभुवन तम भागा।

दो. - मंत्र परम लघु जासु बस, विधि हरि हर सुर सर्व।

महा मत्त गज राज कहूं, बस कर अंकुस खर्व॥

काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें॥

कुंभज कहते हैं नाभि कमल को। नाभि से संकल्प उठते हैं, कंठ में आते हैं - वाणी में आ जाते हैं, और फिर क्रिया होने लगती है। इस तरह से संसार बन जाता है। जब आसक्ति में रहेंगे तो विषय के संकल्पों से संसार बनता चला जाता है। तब यह नाभि कमल अधोमुख रहता है। फिर जब श्वांस जप से ध्यान से इसे ऊर्ध्वमुख कर लेते हैं। कुंडलिनी को जाग्रत कर लेते हैं, तब इसमें विषयगत संकल्पों का उठना बन्द हो जाता है। और साधक का मन संसार को समेट कर निर्लेप हो जाता है। तो इसी को कुंभज द्वारा समुद्र का सोखना कहा गया है। संसार ही समुद्र है। ये सब योगी के अंदर की प्रक्रियाएं हैं, जिन्हें स्थूल प्रतीकों के साथ जोड़कर कहानियां बनाई गई हैं। भला बताइए, समुद्र को कोई आदमी कैसे पी जाएगा ?

‘रवि मंडल देखत लघु लागा।’

सूर्य श्वांसा को कहते हैं। श्वांसा की साधना से जब शरीर के अन्दर स्थित सभी चक्र या कमल उर्ध्वमुखी हो जाते हैं, तो साधक प्रगति करता जाता है और समाधि दशा में जब स्वरूप की अनुभूति पा लेता है तो उस (आत्मज्ञान) के प्रकाश से स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों - इन तीनों लोकों - का यह अज्ञान रूप अंधेरा दूर हो जाता है। ‘उदय तासु त्रिभुवन तम भागा।’

और मंत्र परम लघु - ऊँ, राम, शिव, कृष्ण आदि भगवान के नाम ही बहुत उत्तम कोटि के मंत्र हैं। वैसे मंत्र का अर्थ है कि मन अन्तर स मंतर।’ मन का अन्तर्मुख होना ही मंत्र है। यह मन बिना अंकुश के हाथी की तरह अनियंत्रित होकर विषयों में विचर रहा है बाहर-बाहर। अब इस मन को काबू में करना है, तो यह जो नाम-मंत्र है, इसे लेना पड़ेगा। मन को अन्तर्मुख करके श्वांसा में (नाम जप में)

लगा दो - यही मन रूपी मतवाले हाथी को वश में करने का उपाय है। नाम अंकुश का काम करेगा। फिर क्या है कि - 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हें। सकल भुवन अपने बस कीन्हें।'।

कामदेव के धनुष बाण फूल के बताए जाते हैं। फूल का अर्थ है काम के संकल्प। कामनायुक्त संकल्प, वासना युक्त संकल्प। इन्हीं से सबको हारना पड़ता है। और कामदेव कोई धनुर्धारी वीर नहीं है, जो सबको हरा देता है। रावण की सभा में अंगद ने कहा था -

राम मनुज कसरे सठ बंगा। धन्वी काम नदी पुनि गंगा।

अरे! मूर्ख रावण! क्या राम कोई आदमी है? अथवा क्या कामदेव कोई धनुर्धर वीर है? क्या गंगा कोई नदी है? अर्थात् नहीं, तो ये सब बातें यौगिक प्रक्रिया में लगे हुए साधक के मतलब की हैं। और समझने की हैं। भजन में लगे हुए साधक को ये सब विचार, उसके अन्तर्जगत में दिखाई पड़ जाते हैं। यही सही दृष्टि है - बाहर भटकाव ही भटकाव है। ध्यान की पूर्णता तभी संभव है, जब साधक श्वांसा में निरंतर नाम जप करे और ध्यान का अभ्यास करे - और किसी प्रकार की इच्छा न रखे। गुरु के निर्देशन में साधना करके कुंडलिनी की शक्ति से अपने मन को नियंत्रित कर ले और संसार से छुट्टी पा ले। इस तरह से यह धनुष यज्ञ साधक के मानस का है, इसे खूब बुद्धि लगाकर समझते चलो। धनुष ध्यान है, यज्ञ है जानकारी। तो यहां ध्यान की क्रिया साधक के अन्दर कैसे होती है - इसकी जानकारी कराते जा रहे हैं। साधनात्मक बातें हैं सब।

गुरहिं प्रनामु मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा॥
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा रहे सब ठाढ़े॥
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर
कठोरा॥

पहिले जो राजा लोग अन्य इष्ट देवों का सहारा लेकर धनुष उठाने गए, तो नहीं उठा पाए। अब राम ने गुरु को प्रणाम किया और उठा लिया। तो यह धनुष उठाने का मतलब ध्यान की अवस्था में जाने से है। यह योग की उच्च अवस्था है। ध्यान की पूर्णता गुरु की कृपा से, उनके द्वारा बताई गई युक्तियों से ही संभव होती है। वहाँ कोई धनुष चढ़ाने-तोड़ने का काम अगर होता, तो सब लोग देखते। लेकिन लिखा

हैं कि - काहु न लखा - कोई नहीं देख पाया। क्यों कोई नहीं देख पाया ? क्योंकि यह ध्यान की क्रिया है। साधक के अन्दर की बात कोई कैसे जानेगा ?

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहुन लखा रहे सब ठाढ़े।।

जब साधक इस प्रक्रिया को लेता है, अर्थात् योग का आश्रय लेता है तो कोई दूसरा नहीं जान पाता। फिर जब वह योग की युक्तियों को चित्त में चढ़ाता है अर्थात् हृदयंगम करता है, बुद्धि में स्थिर करता है, तब भी अन्य कोई नहीं देख सकता। और जब अपने चित्त को बाहर से खींच कर अन्दर अपने ध्येय में लगाने का प्रयत्न करता है तब भी कोई उसके अन्दर की प्रक्रिया को नहीं जानेगा। ऐसी यह अन्दरूनी प्रक्रिया ध्यान की चलती है, बाहर से मतलब कुछ रहता नहीं। और फिर इसी क्रम में ध्यान की गहराई में जब तन्मयता आती है, और एक क्षण के लिए शांत, शून्य स्थिति बनती है तो श्वांसा खड़ी हो जाती है। एक करेंट का जैसा झटका लगता है। कभी-कभी साधक घबड़ा जैसा जाता है। अच्छा साधक नहीं घबड़ाता। छिटक कर दूर गिरेगा - ऐसा झटका आ सकता है। जिसे आत्मा का यह करेंट मिला, कि मानों हमेशा के लिए संसार से उसके चित्त का विच्छेद हो गया। यह भव-चाप टूट गया। तो उस समय एक क्षण के लिए साधक के अन्दर एकाएक चमत्कार जैसा घटित होता है। हलचल सी आती है शरीर स्तर पर। वही यहाँ लिखा है -

भरे भुवन घोर कठोरख रवि बाजि तजि मारग चले।

चिक्करहिं दिग्गज डोल महिं अहि कोल कूरम कलमले।।”

लेकिन अन्दर ही अन्दर अपार शान्ति और आह्लाद की अनुभूति होती है। उसी का वर्णन आगे इस रूप में किया गया है कि -

बाजे नभ गह गहे निशाना। देव वधूनाचहिं करि गाना।।

बरसहि सुमन रंग बहु माला। गावहिं किन्नर गीत रसाला।।

ऐसा वातावरण बनता है हृदय-आकाश में। फिर साधक का दर्जा यहीं से दूसरा हो जाता है। उसमें योग-शक्ति का संचार हो जाता है। सीता उसे वरण कर लेती है तत्काल। ‘टूट ही धनु भयउ विवाहू।’ साधक में क्षमता आ गई। अब उसकी दुनिया बदल गई। इसके बाद प्रकृति के दायरे से निकल जाता है साधक। प्रकृति रूपी परशुराम अब प्रमाणित कर देगा तब सही मान लिया जायगा और विधिवत वरण हो जाएगा। प्रकृति परीक्षा लेती है - परशुराम के रूप में।

सुनहु राम जेहि सिव धनु तोरा। सहस बाहु सम सो रिपु मोरा।।

सो विलगाउ विहाइ समाजा। नतु मारे जइहैं सब राजा।।

सुनि मुनिबचन लखन मुसुकाने। बोले परसु धरहिं अपमाने॥

बहु घनुही तोरी लरकाई। कबहुं न अस रिस कीन्ह गोसाई॥

परशुराम के गुरु शंकर का यह धनुष राजा निमि के पास था। नियम ही निमि है। जिस साधक नेनियम से साधना करना शुरु किया उसे ध्यान पकड़ में आ जाएगा। ध्यान रूपी धनुष मिल जाएगा। फिर साधना की प्रक्रिया पकड़ में आ जाएगी। और उसमें लगाव बन जायगा तो उसे योग रूपी जनक - यह लड़का पैदा होता है। ऐसी यह योग साधना की शैली है - यह किसी धनुष की कहानी नहीं है। और यह परशुराम है प्रकृति, जो राम-लक्ष्मण का दम बिगाड़े दे रहा था। लेकिन विवेक साधक का जब तन कर खड़ा हो जाता है - लक्ष्मण रूपी विवेक - तब फिर प्रकृति का प्रकोप ठण्डा पड़ जाता है। राम की तरह साधक में क्षमता, गम्भीरता होना चाहिए। जो काल चक्र अथवा प्रकृति के प्रभाव को धैर्य के साथ हटा सके। बाकी जो कमजोर साधक अर्थात् डरपोक राजा थे, उनका क्या हाल था - परशुराम के सामने ? कि,

“देखत भृगुपति वेष कराला।

उठे सकल भय विकल भुआला।

पितु समेत कहि कहि निज नामा।

लगे करन सब दण्ड प्रनामा॥”

मारे भय के कांप रहे हैं सब। यही हाल होता है कमजोर साधकों का। जब बाधाएं सामने आती हैं तो साधक घबड़ा जाता है। जिन साधकों में ज्ञान की गम्भीरता है, विवेक में तेजस्विता है, आत्मविश्वास से युक्त है और गुरु की छत्रछाया में हैं। उनसे प्रकृति रूपी परशुराम को पराभूत होना पड़ेगा। क्योंकि सत्य और असत्य के झगड़े में, असत्य कितना भी प्रबल हो, तो भी सत्य का पक्ष धीरे-धीरे ताकतवर होता जाएगा, और अंत में असत्य को सत्य सेहारना पड़ेगा। इसलिए यह ऐसा रास्ता है कि इसमें डटना पड़ेगा। बातें करते रहने से कुछ मिलता नहीं इसमें, इसलिए -

‘लक्ष्य रूप में मार निशाना वृथा विलोवैथूक।

करावे क्यों जग में हांसी॥’

थूक बिलोने का मतलब बातों में लगे रहने से है। साधक को बातों में न लगे रहकर अपने लक्ष्य को पाना चाहिए। साधना करके अपने लक्ष्य को पाना चाहिए। स्वरूप में स्थिति बनाना चाहिए। यह मानव तन साधन का धाम है। इसलिए यह

शरीर ही मुख्य है। जब इसमें भगवान की अराधना होने लगती है, तो फिर इससे बड़ा न साकेत है, न स्वर्ग है, न बैकुण्ठ है। ये सब यहीं अपने अन्दर मिल जाते हैं।

शास्त्रों में जनक की बड़ी महिमा है। बड़े-बड़े ऋषि उससे मिलने जाते थे। इसका अर्थ है कि योग के बिना इस रास्ते में काम नहीं चलता। जनक कहते हैं योग को। योगारूढ़ हो गए तो यह साधना की ऊँची अवस्था है। बेचलर डिग्री है। योग प्रक्रिया मिल जाती है, तो फिर आगे बिना किसी दिक्कत के साधक निकल जाता है। उसमें क्षमता आ जाती है। जैसे बी.ए. जिसने कर लिया, उसे एम.ए. करने में दिक्कत नहीं होती। न भी करे तो भी ठीक है। स्नातक तो हो ही गया।

तो अब यहां तक पहुंचने के बाद साधक की परीक्षा लेने परशुराम के रूप में प्रकृति आ जाती है। यह स्थूल अनुगत चेतन का प्रतिबिम्ब जो शंकर है - उसका प्रतिनिधि है। यह क्षत्रियों को मार मार करनष्ट कर देता है। क्षत्रिय उन साधकों को कहते हैं, जो सद्गुणों और दुर्गुणों के युद्ध को लड़ रहे हैं - अपने अंतःकरण में। ऐसे साधकों को यह प्रकृति हर तरह से परेशान कर देती है। लेकिन राम ज्ञान और विवेक लक्ष्मण के सामने प्रकृति का वश नहीं चला। परीक्षा में सफल होने के लिए साधक में ज्ञान-विवेक परिपक्व होना चाहिए। परशुराम कहता है -

‘भुजबल भूमि भूप बिनु कीर्हीं।

विपुलबार महिदेवन्ह दीर्हीं।।’

अनेक बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन कर दिया है, - तमाम साधक जो साधना करते हैं, यहाँ वहाँ उन्हें साधन से पतित कर देती है प्रकृति। उनके पास जो थोड़ी बहुत ईश्वरीय आधार रूप स्टेज है उसे छीन लेती है यह परशुराम रूपी प्रकृति। और जो साधक साधना में आगे बढ़ गए हैं, ब्रह्म पद को प्राप्त कर चुके हैं; उन्हें ब्राह्मण कहा जाता है। प्रकृति उन्हें साधना सम्पन्न बना देती है। ऐसे साधकों को प्रकृति हेल्प करने लगती है। और यह भी अर्थ है इसका कि ढोंगी या बनावटी, भक्त साधकों में कोई दम तो होती नहीं - वही हैं ये जिनकी पोल पट्टी खोल देती है प्रकृति। और उनकी सब भूमिका जो बनाए थे वे लोग, उसे लेकर यह प्रकृति रूपी परशुराम उन साधकों के गुँयों के आगे रख देती है, कि यह देखो अपने चेलों की करतूत। लेकिन सही साधना की गतिविधि को पकड़कर चलने वाले साधक का यह प्रकृति कुछ नहीं बिगाड़ पाती और अन्ततः अनुकूल हो जाती है। अन्ततः परशुराम नत मस्तक हो गए।

दो. - देवन्ह दीर्हीं दुन्दुभी, प्रभु पर बरसहिं फूल।

हरषे पुर नर नारि सब, मिटी मोह मय सूल॥

परशुराम पराभूत होकर चले गए। स्तुति किया और फिर चले गए। इसका मतलब कि साधक की सफलता को प्रकृति रूपी परशुराम ने परीक्षा लेकर प्रमाणित कर दिया। स्तुति करने का अर्थ है कि उसकी योग्यता को मान्यता दे दिया। तो जब यह हो गया, साधना की उच्चतर श्रेणी मिल गई, तो साधक के शरीर के अन्दर खुशी आती है। उल्लास आ जाता है। अन्दर के सारे अवयव आह्लाद-पूरित हो जाते हैं। इंद्रियों में रहने वाले देवता सब खुश हो जाते हैं। जितने कोष्ठक-नाड़ियां हार्मोन्स हैं, उन सबमें खुशियाली आ जाती है। और मिटी मोह मय सूल। मोह मय - यह जो संसार जनित दबाव बनता रहता था मन के अन्दर, अब ध्यान जनित आनन्द से वह मिट गया। अब आत्मिक सम्पर्क हो गया। आत्मा का स्पर्श मिल गया है - उस क्रेन्ट के छू पाने से मोहमय पूर्व संस्कार जलकर भस्म हो गए हैं। इसलिए वह पहले वाली दीन-हीन अवस्था अब नहीं रहेगी। ध्यान की पूर्णता साधक जब प्राप्त कर लेता है, और एकरसता के आनन्द में डुबकी लगा लेता है, तो वह पीछे संसार की ओर मुड़कर नहीं देखता। उसी में डूबा रहना चाहता है। फिर वह आगे निकल जाता है। उसकी दुनिया बदल जाती है। अन्दर बाहर से उसका रंग-ढंग सब बदल जाता है। मस्ती आने लगती है, और उसमें अलौकिकता झलकने लगती है। सीता के रूप में उसे दिव्य शक्ति मिल गई है। इस तरह से क्षमता आ जाती है, योग साधना से साधकों को इसी के लिए ध्यान बताया जाता है, मन को समेट कर ईश्वर में लगाने के लिए कहा जाता है कि उन्हें यह क्षमता मिले। उस दिव्य शक्ति को पाने के लिए ध्यान रूपी धनुष को चढ़ाना ही पड़ेगा। योग रूप जनक की यह शर्त है। इसलिए ऐसा यह भव-चाप है कि इसे तोड़े बिना मामला हल हो नहीं सकता। तो जब यह हो गया तो बस फिर शक्ति सीता मिल जाएगी। जनक के दूत गए - दशरथ को खबर मिली कि विवाह होना है राम का - बारात लेकर पधारें ! तो अब आगे विवाह-बारात सब लोक रीति की बातें आती हैं। साधक को अपनी शैली से इनका मानस अर्थ कर लेना चाहिए। गोस्वामी जी की इस रचना में दोनों तरह की बातें हैं। संसारी समाज के लिए इसमें लोक रीति की बातें भरपूर लिखी गई हैं। और साधकों के लिए आध्यात्मिक बातें हैं। शुरू में लिख दिया है उन्होंने कि लोकमत और वेदमत दोनों इसमें लिए गए हैं -

‘लोक वेद मत मंजुल कूला।’

तो यह दोनों तरह से उपयोगी ग्रंथ है मानस। प्रवृत्ति मार्ग वाले भी इसे अपनाते हैं - इससे लाभ लेते हैं और निवृत्ति वाले साधक भी इससे लाभ उठा

सकते हैं। क्योंकि यह मानस है। मन से ही संसार है और मानस की ही साधना है। दशरथ बारात लेकर आ गए यहां जनकपुर। अब विवाह के लिए जा रहे हैं - विवाह मंडप की ओर। तो वहाँ देवताओं की समाज इस उत्सव को देख रही है।

यहि विधि संभु सुरन्ह समुझावा। पुनि आगे वर बसह चलावा।।

देवन्ह देखे दशरथ जाता। महामोद मन पुलकित गाता।।

साधु समाज संग महिदेवा। जनु तनु धरे करहिं सुख सेवा।।

सोहतसाथ सुभग सुत चारी। जनु अपवरण सकल तनुधारी।।

दशरथ अपने चारो पुत्रों और विप्रों मुनियों सहित जा रहे हैं, देवतागण अपने विमानों में वाहनों में बैठकर आकाश से राम-सीता के विवाहोत्सव को देख रहे हैं। वहाँ ऊपर आकाश में नहीं - यहां अपने अन्दर के आकाश में ये सब रहते हैं - देवता। अन्दर प्रक्रिया चल रही है, साधक के मानस में। तो सब देवता आश्चर्य मुग्ध हैं - ब्रह्मा ने अपनी सृष्टि की कोई रचना वहाँ नहीं देखी। तब शंकर (कामारि) जी ने समझाया कि आश्चर्य मत करो - यह अलौकिक जगत की बातें हैं ये बाहरी तौर तरीका नहीं है। शंकर (कामारि) उस संत को कहते हैं, जो कामनाओं से परे हो चुका है। साधक के अन्तःकरण में ईश्वर के प्रति दसो इन्द्रियों में आकर्षण हो जाना ही दशरथ है। ऐसा साधक जब सांगो पांग रूप में साधना करके क्षमता प्राप्त कर लेता है, उस स्थिति का वर्णन है। उस अवस्था में ये सब अधिदैव जो अन्दर के हैं ये सब मुग्ध होते हैं। इस अवस्था में साधक वेद विहित आचरण रूप विप्रों के सहित और साधुता के सभी लक्षणों (महात्माओं) से युक्त रहता है। साधक की यह स्थिति सुखद होती है। राम, लक्ष्मण आदि ये चारों भाई ज्ञान, विवेक, सब स्वर्ग-अपवर्ग के रूप में मानो साधक को मिल गए हैं - यही सुख के केन्द्र हैं। ये लक्षण ही सुख के मूल हैं। तो यह सब साधक के अन्दर आने वाली बातें हैं। बाहर कहीं आकाश में बैल नहीं चलता है। कहते हैं -

बैल शंकर जी की सवारी है। बैल धर्म का प्रतीक है। संत सदैव धर्मारुढ़ रहते हैं। इसी तरह ब्रह्मा का वाहन हंस बताया गया है। विवेकमयी बुद्धि का प्रतीक है - हंसारुढ़ ब्रह्मा। ये सब बाहर प्रतीक बना लिए गए हैं, बातें सब अन्तर्जगत की हैं। गणेश का वाहन चूहा है। चित्त ही चूहा है, जब इसमें ईश्वरीय गुण धर्म आ जाए तो, गणेश का वाहन बने। ऐसे ही लक्ष्मी का वाहन उल्लू है। धन के पीछे लगने वाला मन उल्लू ही है। वित्तेशणा यह भगवान की माया रूप लक्ष्मी - उस पर सवार हो जाती है। तो यह सब बनाया गया है, इन सब बातों का अपने अन्तःकरण में एक

पूरा सांचा ढांचा बना लेना चाहिए - बाहर इनका कोई मतलब नहीं है। तर्क के आधार पर इन सब बातों को सही सिद्ध करना कठिन है, इसलिए रुढ़िगत ढंग से अंधविश्वास के आधार पर समाज में इनकी मान्यता रहती है। दशरथ को चक्रवर्ती नरेश कहा गया है, उधर थोड़ी ही दूर पर गुहराज निषाद का राज्य था। जनक का राज्य था। उधर रावण के लिए लिखा गया है कि - राक्षसिकोऽन स्वतंत्र। दशरथ को तब चक्रवर्ती कहना गलत हो गया। बाहर से अर्थ लेने पर सब गलत हो जाएगा - क्योंकि यह सब आध्यात्मिक बातें संतों ने लिखी हैं। तो दशरथ उसे कहते हैं कि मन जब दसो इंद्रियों सहित ईश्वर में लग जाता है। परमात्मा में लगा हुआ है। परमात्मा तो सर्वत्र है। तो जिसके पास परमात्मा रूपी स्टेट है, उसे चक्रवर्ती कहना गलत नहीं हो सकता। और बाहर की यह दुनिया तो इसी तरह से चलती रहती है। आज जो बातें सही मानी जाती हैं - कल गलत सिद्ध हो जाती हैं। हम सौर मण्डल में पृथ्वी ग्रह में हैं - ये ग्रह अपनी गति से घूम रहे हैं - चल भी रहे हैं। अनंत ब्रह्माण्ड में हमें कहां ले जा रहे हैं किसी को नहीं मालूम। कौन सी इनर्जी है, जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियंत्रित किए हुए है, जिसमें न जाने कितने सौर मण्डल और आकाश गंगाएं हैं - आदमी की जानकारी बहुत सीमित है। जो बातें अभी तक जानकारी में आ चुकी हैं - उसके भी आगे और आगे अनुसंधान होते जाते हैं - नयी-नयी बातें आती जाती हैं। तो यह सब तो होता रहेगा - बाहर की दुनिया में। आदमी का जीवन तो थोड़ा है। इस थोड़े से समय में उसे अपने जीवन के रहस्यों को समझने का प्रयास करना चाहिए। बाहर के बजाय अपने अन्तःकरण की ओर देखना चाहिए और आत्मकल्याण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। लौकिक क्षेत्र से आलौकिक में प्रवेश कर जाने के बाद साधक का जीवन बदल जाता है। उसके विचार बदल जाते हैं। उसकी मान्यताएं बदल जाती हैं। उसके लिए संसार असत्य हो जाता है। अब वह समर्पित हो चुका है ईश्वर के प्रति। उसके रथ की बागडोर भगवान अपने हाथ में ले लेते हैं। देखो, अर्जुन की रक्षा के लिए उसकी सफलता के लिए भगवान कृष्ण ने क्या-क्या नहीं किया। यह सब अन्दर के रहस्य हैं। अनुरागी साधक अर्जुन है - कृष्ण गुरु या गाइड है। समाज में मान्यता प्राप्त सारे नियमों आदर्शों को ताक में रख दिया। यहाँ तक कि उस नटखट सांवरिया ने अपनी बहन सुभद्रा का हरण भी अर्जुन के द्वारा करवाया - बलराम ने बड़ा विरोध किया तो भी। क्योंकि अभिमन्यु को पैदा होना था। तो अर्जुन, सुभद्रा, अभिमन्यु सबका मतलब आध्यात्मिक है। मन की अभय स्थिति ही अभिमन्यु है। अनुराग अर्जुन है। घटोत्कच भीम का पुत्र था। भाव ही भीम है। हिडिम्बा से भीम का संयोग हुआ तो घटोत्कच पैदा हुआ। घटोत्कच उस

प्रबल आवेग का प्रतीक है, जो भाव की प्रधानता से साधक के अन्दर उत्पन्न होता है। अर्जुन के लिए घटोत्कच को भी मरवा दिया। कृष्ण ने, भीम नाराज भी हुआ। ये बातें सब दूसरी दुनिया की हैं। तो हम कह रहे थे कि भगवान अपने आश्रित भक्त के लिए सब कुछ करता है। उसके हित के लिए कभी कभी उसे कष्ट या दिक्कत भी देता है। कलंक या बीमारी भी दे देता है।

जौ सिसु तन व्रन होइ गोसाईं॥ मातु चिराव कठिनकी नाईं॥'

इस तरह से भगवान अपने भक्त के लिए वही करेगा, जिसमें उसका हित होगा। अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर ली थी जयद्रथ को मारने की - नहीं मार पाया, सूर्यास्त कर दिया भगवान ने। अर्जुन चिता पर चढ़ने को तैयार हुआ - कौरवों ने वहाँ उसकी खूब हंसी उड़ाई। लेकिन अंत में काम अर्जुन का ही बना। नारद की खिल्ली उड़ाई गई - जब विश्वमोहनी को पाने के लिए रूप मांगा तो बंदर का रूप दे दिया। तो जैसे माताएं अपने सुन्दर बालक के माथे पर कालिख लगा देती हैं, ताकि उसे नजर न लगे, इसी तरह भगवान भी अपने भक्त के हित के लिए ही अपयश और आपदा देते हैं। समाज में हंसी करा देते हैं। और बचाते भी हैं। थोड़ी देर के लिए प्राप्त हुए इन दुःखों से भक्त का पुण्य बढ़ जाता है और वह साधना में प्रगति कर जाता है इसलिए भगवान ऐसा करते हैं - यह मानकर साधक को हर परिस्थिति में भगवान का सहारा हमेशा लिए रहना चाहिए। अन्दर से भगवान को पकड़े रहना चाहिए। निरंतर ईश्वरीय भावना में मन-बुद्धि से जो डूबा हुआ है, ईश्वर के अनुराग में सराबोर है जिसका मन, वही वास्तव में चक्रवर्ती सम्राट है। परमात्मा रूपी असीम साम्राज्य को लेकर बैठा है।

रामहिं चितव सुरेस सुजाना ।

गौतम श्राप परम हित माना ॥

देव सकल सुर पतिहिं सिहाहीं ।

आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं ॥

इंद्रियों का अधिपति मन है इंद्र। मन दसो इन्द्रियों के साथ हजारों प्रकार से विषय भोग करता रहता है। विषयोन्मुख रहता है यही इसके शरीर के हजार भग हैं। गौतम ऋषि के शाप से इंद्र के शरीर में हजार भग हो गए थे। ऐसी कहानी है कि जब अहिल्या के साथ इन्द्र ने व्यभिचार किया था, तब अहिल्या के पति गौतम ने उसे यह शाप दिया था। गौतम का तात्पर्य है, इन्द्रियों में सजातीय भावना युक्त चेतन का प्रतिबिम्ब। इसलिए यह ऋषि का रूप है। हृदय में अनुराग और लगन की

प्रशक्ति अहिल्या है जब इन्द्र के साथ दूषित हो जाती है तो उसका सजातीय भावना से विच्छेद हो गया। गौतम से शापित होकर पत्थर बन गई। जड़वत हो गई। और फिर जब संयोग बना तो -

‘परसत पग पावन सोक नसावन,
प्रगट भई तप पुंज सही।

अब वही ईश्वरीय अनुराग मयी लगन जो थी, और विषयी मन के संपर्क में कदाचित् आ जाने से स्तंभित पड़ी थी साधक के हृदय में, पुनः समय आने पर भगवान के चरणों का स्पर्श इसे मिला, तो उसमें चेतना आई। अब हृदय का अनुराग भगवान के चरणों में हुआ और लव लगी भगवान में। तो यह जो मन रूपी इन्द्र है इसके हजार भग भी अब यहां हजार नेत्र बन गए। ऐसा गौतम ऋषि का ही शाप-अनुग्रह था। अब मन हजार नेत्रों से भगवान की शोभा को देखने वाला हो गया। अब भला कौन इसकी समता करेगा? मन जो विषयों में हजार-हजार बार जाता रहा अभी तक, अब भगवान की ओर उन्मुख हो गया। मन का ट्रांसफार्म हो गया -

पहले यह मन सर्प था,
करता जीवन घात।
अब तो मन हंसा भया,
मोती-चुन चुन खात।।

मन के साथ इंद्रियां भी ईश्वरोन्मुख होकर ऋद्धि-सिद्धि बन गई। तो जब साधक अपनी इच्छा रूपी ट्रेन को प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग की पटरी पर ले आता है - पैट बदल देता है, तो सब अनुकूलताएं आ जाती हैं। अभिशाप भी वरदान बन जाता है। ‘गौतम शाप परम हित माना।’ ईश्वरोन्मुख होने पर पाप-शाप सब मिट जाते हैं। भगवान कहते हैं -

‘सनमुख होय जीव मोहिं जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासउं तबहीं।।’

छंद - बैठारि आसन आरती करि निरखि बरु सुखु पावहीं।
मनि बसन भूषन भूरि बारहिं नारि मंगल गावहीं।।
ब्रह्मादि सुर बर बिप्र वेष बनाइ कौतुक देखहीं।
अवलोकि रघुकुल कमल रबि छबि सुफल जीवन लेखहीं।।
दो. - नाऊ बारी भाट भट, राम निछावरि पाइ।

मुदित असीसहिं नाइ सिर, हरषु न हृदय समाइ॥

मिले जनक दशरथ अति प्रीती। करि लौकिक वैदिक सब रीती॥

भारतीय संस्कृति या वैदिक संस्कृति ऋषियों-मुनियों की संस्कृति है। जिसके मूल में आध्यात्मिक विद्या का समावेश है। भारतीय जन-जीवन के रीति-रिवाज और विवाह आदि सामाजिक परम्पराओं में इसकी स्पष्ट छाप देखी जा सकती है।

राम और सीता के विवाह प्रसंग में गोस्वामी जी ने समाज के रीति रिवाजों का भरपूर चित्रण किया है। ये सारे रीति रिवाज अध्यात्म-साधना के प्रतीक रूप को लिए हुए हैं। साधक जब साधना की उच्च अवस्था में पहुँचता है और उसमें अलौकिक क्षमता आने की स्थिति बनती है, इसी को यहां लिखा गया है।

सीता आलौकिक है - किसी माता के गर्भ से लौकिक लड़कियां पैदा होती हैं। सीता की पैदाइस ही अलौकिक है। कहते हैं ऋषियों मुनियों से कर के रूप में खून लेकर धरती में रख दिया गया था, उसी से सीता की पैदाइस हुई - जनक के राज्य में। तो ऋषियों के खून-पसीने से, अर्थात् उनकी तपस्या से मेहनत से यह क्षमता जन्मती है - जनक के राज्य का मतलब है योग क्षेत्र में - जो योगारूढ़ साधक को ही मिल सकती है। जब साधक अपने में इस क्षमता को प्राप्त करता है, तो उसके अन्दर अद्भुत आनन्द और उल्लासमय स्थिति बनती है। इस असली बात को नकल में ले लिया गया बाहरतो जब योग प्रक्रिया पूरी करके साधक ने व्यापकता प्राप्त कर ली। जब उसको मूल इनर्जी मिल गई तो फिर उसके अंग प्रत्यंग में भी उनकी प्रशक्तियां आकर प्रतिष्ठित हो जाती हैं। विवेक रूप लक्ष्मण के साथ उर्मिला आ गई। उर्मिला विवेक की प्रशक्ति है। साधक का विवेक जो कभी - संसारी क्षेत्र में भी चला जाता था, अब यह उर्मिला उस विवेक को उर में लगाएगी - अन्तर्मुखी बनाए रहेगी। ईश्वरीय विचार धारा में हेल्प करेगी। इसी तरह से भाव रूप भरत को उसकी प्रशक्ति मांडवी हमेशा मन का मंडन करती रहेगी। ईश्वरीय भाव को बढ़ाती रहेगी। सत्संग रूप शत्रुघन को श्रुति कीर्ति मिल गई। सत्संग की सही एडजस्टिंग में मदद करेगी। श्रुति कीर्ति का मतलब जो सुना जाय संतों से श्रुतियों के सत्य सिद्धान्त को, ईश्वर की महिमा को, उस हृदयंगम किया जाय और उसे करने में ले लिया जाय। तो इस तरह से यह प्रशक्ति सत्संग रूप शत्रुघन में आ गई। ये सब साधक के अन्दर जब अपनी अपनी प्रशक्तियों के सहित काम करने लगते हैं, तो फिर साधक का रूप बदल जाता है। उसे बल मिल जाता है आगे बढ़ता जाता है। महात्मा बन जाता है। उसमें चहुर्मुखी योग्यता आ गई। ऐसा अर्थ है यहां।

दो.- सुर प्रसून बरसहिं हरषि, करहिं अप छा गान।

चले अवधपति अवधपुर, मुदित बजाइ निसान॥

अब दशरथ लौट रहे हैं अवध को। देवता खुश होकर फूल बरसाते हैं। यह दशरथ जो इंद्रियों का रूप है, स्थूल में उसकी तारीफ की जा रही है। अधिदैव सब फूल बरसाते हैं। खुश होते हैं। अप्सराएं नृत्य कर रही हैं। तो अन्दर से अलौकिक उल्लासमयी अनुभूतियां और दिव्य भाव, अच्छी स्थिति वाले महात्मा के अन्दर आते ही हैं।

समउ जानि गुरु आयुस दीन्हा। पुर प्रवेस रघुकुल मनि कीन्हा।

सुमिरि संभु गिरिजा गनराजा। मुदित महीपति सहित समाजा॥

दो. - होहिं सगुन बरषहिं सुमन, सुर दुंदुभी बजाइ।

बिबुध बधू नाचहिं मुदित, मंजुल मंगल गाइ॥

देखना चाहिए कि गोस्वामी जी पग-पग पर गुरु का नाम इसमें ले लेते हैं। इसलिए गुरु को आगे रखकर चलते हैं, क्योंकि यह मार्ग ही ऐसा है। इसमें गुरु के बिना कुछ होता नहीं। गोस्वामी जी अच्छे महात्मा थे। उन्हें इन सब बातों का भरपूर ज्ञान था।

दो. - बधुन्ह समेत कुमार सब, रानिन्ह सहित महीस।

पुनि पुनि बंदत गुरु चरन, देत असीस मुनीस॥

पुनि पुनि वंदत गुरु चरन' - तो साधक अपना बल - पुरुषार्थ अपनी क्षमता, योग्यता सबको समेटकर गुरु के चरणों में अर्पित कर देता है। और गुरु की अनुकूलता प्राप्त करता है - उनका आशीर्वाद प्राप्त करता है। और इस तरह से गुरु की कृपा प्राप्त करके साधना में सफलता प्राप्त करता है। तो अब वहाँ उसके इस शरीर रूपी अवध में बधाइयां बज रही हैं। खुशी ही खुशी छागई अंग प्रत्यंगमें॥ लेकिन साधक को हमेशा सचेत और सचेष्ट रहकर अपने कर्तव्य को करते रहना चाहिए। किसी ऐसी साधनात्मक उपलब्धि की खुशी में और अर्जित क्षमता के उपयोग में लगकर ईश्वरीय कर्तव्य को जो भुला बैठता है, वह अधूरे में अटक कर रह जाता है। साधक वही है जो आगे ही आगे बढ़ता जाय और मंजिल तक पहुँचे।

हरि: ओम